ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क—६२

संस्कारोंकी राह

[सामाजिक उपन्यास]

राधाकृष्ण प्रसाद

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

आमुख

'संस्कारोंकी राह' एक लघु उपन्यास है और इसलिए इसकी भूमिका भी लघु होनी चाहिए।

आजके कथा-साहित्यमें विभिन्न धाराएँ काम कर रही हैं। जीवनकी कुरूपताके प्रति हम अधिक जागरूक और सतर्क हैं। राजनीतिक वादोंकी भित्तिपर भी अनेक रचनाएँ लिखी गई हैं। कथा-शिल्पकी दिशामें भी अनेक प्रयोग किये जा रहे हैं।

आजके कथाकारके सम्मुख अनेक उलझनें हैं। पहलेके कलाकार 'कु' और 'सु' श्रेणीके पात्र चुनते थे और पाठकोंके लिए वे मान्य थे। वैज्ञानिक सुविधाओंके कारण दुनिया सिकुड़ती जा रही है। आज कथाकारके सामने बदले हुए मानव-मूल्य हैं। प्रेम, राष्ट्रीयता, विश्वास सभी नये रूपमें आजके कथाकारके सम्मुख आते हैं। फलतः आजकी कलामें कुण्ठा अधिक है। सामाजिक, आर्थिक, नैतिक सभी तरहकी कुण्ठाओंसे आजके कथाकार ग्रसित हैं। द्वितीय महायुद्धके पश्चात् अणु विस्फोटके नये परीक्षणोंने भी प्रत्येक राष्ट्रको अपनी सीमित परिधिके बाहर निकलकर सोचनेपर विवश कर दिया।

उपन्यास और इतिहासकी तुलनात्मक विवेचना करते हुए हेनरी जेम्सने कहा था—'उपन्यास एक प्रकारका इतिहास है।

अपनी व्यापक परिभाषाके अनुसार यह एक व्यक्तिगत जीवनकी छाप है। उपन्यासकारका काम ज़्यादा कठिन इसलिए है कि उसे जीवनसे घटनाओंका चयन करना पड़ता है।'

'संस्कारोंकी राह' में मैंने इसी चयनपर अधिक ध्यान दिया है। निम्न मध्यवर्ग एवं मध्यवर्गके संस्कारोंकी यह एक लघु-कथा है। अपने परिचित पात्रोंके सहारे सरल, सीधे-सादे शब्दोंमें कहानी कहने का प्रयास किया है।

रचना आपको पसन्द आ जाय तो श्रम सार्थक समझूँगा।

—राधाकृष्ण प्रसाद

संस्कारोंकी राह

गाड़ी एक घण्टा लेट थी।

रामचरण बाबूने थकी-थकी आँखोंसे दीवाल-घड़ीकी ओर देखा। अभी दस बजकर पैंतीस मिनट हुए थे। जाड़ेकी अँधेरी रातमें बिजलीकी रोशनी रोती-सी प्रतीत होती थी। यात्री कम थे। थर्ड क्लासके मुसाफ़िरोंके लिए बनी काठकी बेंचोंपर अधिकतर ऊबे हुए गाड़ीकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

बाबू रामचरणने कम्बलसे अपना सारा शरीर ढक लिया। तीखी हवा बह रही थी और लगता था जैसे हल्की बूँदा-बाँदी होगी। आकाश भरा-भरा था और हवा जैसे काट खाने दौड़ती थी।

वह समय यात्राके लिए उपयुक्त न था, पर दूसरा और कोई उपाय भी न था। दफ़्तरसे दो दिनकी छुट्टी मिली है और कल दोपहर तक भागलपुर पहुँच जाना है। रातकी गाड़ी छोड़ें तो फिर दूसरे दिन ही जाना हो सकता था और फिर वे कोई सैर-सपाटेके लिए तो निकले नहीं। शीलाके ब्याहके सिलसिलेमें जाने कितनी छुट्टियाँ ले चुके। बड़े साहबने झल्लाकर कहा—"हर महीने आप छुट्टीकी दरख़्वास्त देते हैं। सरकार आपको काम करनेके लिए पैसे देती है, छुट्टीके लिए नहीं।"

रामचरण बाबूने कहा—"सर, मेरी बदक़िस्मती है! कहीं बात पक्की नहीं हो पाती। पाँच लड़कियाँ हैं सर......भगवान् ही मालिक हैं!"

साहबने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। पिछली बार कहा था—"भगवान्ने आपको पाँच लड़कियाँ पैदा करनेके लिए कहा था?" शायद रामचरण बाबूका उदास और कान्तिहीन चेहरा देखकर इस बार कुछ नहीं कहा।

चालीस सालकी उम्र अधिक नहीं होती। इस उम्रमें पहुँचकर विदेशोंमें लोग शादी-वादीकी बात सोचते हैं। पर रामचरण बाबू भारत-वर्षके निवासी हैं जहाँ औसत आयु २२ मानी गई है। चालीसवाँ पार कर रहे हैं और लगता है अब और उठा नहीं जायगा। आधे बाल पक गये हैं और चेहरा बिल्कुल लालसा-हीन हो गया है। यह लालसाहीन चेहरा ही श्री-हीन जीवनका पर्याय है।

लालसाएँ अब मर चुकी हैं, शायद जवान होनेके पहले ही असमय वे काल-कवलित हो गयीं। सात बच्चोंका सृजनकर 'बाबू' सम्प्रदायका व्यक्ति चालीसकी उम्रमें और क्या हो सकता है?

रामचरण बाबूने एक बीड़ी सुलगा ली। 'बीड़ी' और 'पान'—अब ये ही दो व्यसन रह गये हैं। इनपर वे क़ाबू नहीं कर पाये। बाक़ी और बातोंपर क़ाबू करना उन्होंने सीख लिया है। 'लालसा' के चक्करमें कितना भटकना पड़ा?

लगातार जब तीन लड़कियाँ हुईं तो उन्होंने सोचा—अब इन्द्रिय-निग्रह किया जाय। पर उनकी पत्नी पचीस सालकी उम्रमें इस बातपर सहमत नहीं हो सकीं। बोलीं—"भगवान्ने तीन लड़कियाँ तो दीं—पर एक लड़का न होनेसे सब सूना है। लड़कियाँ तो परायेकी धन हैं। इनका क्या भरोसा?"

भगवान्की दया हुई और चौथी सन्तानके रूपमें एक लड़का ही आया। परिवारमें हर्ष छा गया। प्रसन्नताके मारे बाबू रामचरणकी आँखोंमें आँसू छलक आये।

बाबू रामचरणकी पत्नी लाजवन्ती बड़े उछाहसे बच्चेको दूध पिलाती। लगता जैसे अभी ही उसका 'मातृत्व' धन्य हुआ है।

रामचरण बाबूने कहा—"अब तो भगवान्की दया हो गयी। अब हम निग्रह-विग्रहकी बातें सोचें।"

लाजवन्तीने उत्तर दिया—"जब भगवान्‌ने एक दिया है तो दूसरा भी देगा। और फिर एकका क्या ठिकाना...भगवान न् करे..." कहकर उन्होंने आँसू टपका दिये।

निग्रहकी बात फिर दब गई। भगवान्‌की कृपाकी पुनः पुकार हुई। पर भगवान् भी कम मज़ाकिया नहीं। उन्होंने लाजवन्तीको दो और पुत्री-रत्न प्रदान किये।

रामचरण बाबूने सिर पीट लिया। बोले—"मैं कहता था न.... भगवान्‌से चालाकी न करो।" पर लाजवन्ती टससे मस न हुई। बोली—"भाईका जोड़ा तो होना ही चाहिए।"

रामचरण बाबूने समझाया—"कुल मिलाकर डेढ़ सौ मिलते हैं। इतनेमें आठ मुँहको भरना है, ज़रा सोचो तो।"

लाजवन्ती बोली—"भगवान्‌ने जब मुँह चीरा है तो दाना भी वह ज़रूर जुटायेगा। मैं छठका व्रत करती हूँ। इस बार ज़रूर रतनका भाई होगा।"

छठके देवता सूर्यके प्रतापसे या प्रजनन-विज्ञानके साधारण नियमसे इस बार लड़का ही हुआ।

रामचरण बाबूको विशेष ख़ुशी नहीं हुई। जाने क्या सोचकर वे एक दिन अस्पताल गये और उन्होंने अपना आपरेशन करा डाला। मित्रोंने चुटकी ली—"भले आदमी, तुम तो पुरुषार्थ-हीन हो गये!"

रामचरण बाबूने उत्तर दिया—"मेरे पुरुषार्थके सात प्रतीक इस पृथ्वीपर हैं।"......

इतनेमें घंटी बजी। गाड़ी आ रही थी। रामचरण बाबू उठ खड़े हुए। बिस्तर और झोलेको थाम वे थर्ड क्लासके डिब्बेमें स्थान पानेके लिए तत्पर हो उठे।

गाड़ीमें भीड़ काफ़ी थी। जाड़ेकी रातमें लोग खिड़कियाँ बन्द कर झपकी ले रहे थे। ऐसे समय किसी नये आगन्तुकका स्वागत नहीं हो सकता और यही बात रामचरण बाबूके साथ हुई।

एक सरदारजी गरजे—"इसी डिब्बेमें क्यों घुसे आते हो? और भी तो डिब्बे हैं।"

एक बङ्गाली बाबू (हुलियासे पता चलता था कि मलेरिया-पीड़ित हैं) ने अपनी तीखी भोंड़ी आवाज़में कहा—"यही हिन्दुस्तानी लोगका हाल है। भेड़का माफिक जहाँ एक घुसेगा—सभी घुसना माँगेगा।"

रामचरण बाबू तिलमिला गये। झोला खूँटीमें टाँगते हुए बोले—"तुम क्या विलायती हो? सारी गाड़ी खरीद ली है न? टाँगें पसारकर सोना चाहते हो तो फर्स्टका टिकट लो—उठो, बैठने दो।"

बङ्गाली बाबूने अपने पैर समेट लिये और आग्नेय दृष्टिसे देखकर मुँह फेर लिया। पाँच मिनटके भीतर गाड़ी चलनेके साथ ही डिब्बेका वातावरण पूर्णतया शान्त हो गया।

पाँच मिनट पहले जो सरदारजी गरज रहे थे—उनकी विशाल नासिका खर्राटेके बिगुल बजाने लगी।

रामचरण बाबूने सोचा—अजीब है यह मनुष्यका मन! वह मात्र अपना स्वार्थ देखता है! हर जगह स्वार्थ और छीना-झपटीका राज्य है। मनुष्य मनुष्यसे लड़ता है, एक देश दूसरेको नीचा और हेय समझता है। शायद यही उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अपनेको छलो—सारे समाजको छलो—तुम 'बड़े' आदमी कहलाओगे। अपनेको ईमानदार बनाये रखो—दूसरोंके हितोंका ध्यान रखो—तुम मूर्ख और 'छोटे' आदमी हो।

इसी ईमानदारीके चक्करमें वे आज भी 'छोटे किरानी बाबू' हैं। ग्रेड—५५–३–१२०! उनके कई सहयोगी आगे निकल गये। हेड

असिस्टेंट बने और कई तो गजेटेड अफ़सर बन गये। वे सभी 'चलते-पुरजे' थे। बीस बरसकी नौकरीमें सदा ईमानदारी बरती—किसीकी चुग़ली नहीं की, किसीका बुरा नहीं चाहा।

......पर तुम बुरा नहीं चाहो तो क्या और बुरा नहीं चाहेंगे? नौकरीका सारा रिकार्ड अच्छा है पर जब अपर-ग्रेडमें तरक्क़ीका मौक़ा आया तो बड़े बाबूने अपने दोस्तके सालेको और हेड-असिस्टेंटने अपने भानजेको ऊपर ठेल दिया। आज तो कोई ऊपर ठेलनेवाला चाहिए। आप ईमानदार हैं—यह आपकी ड्यूटी है। आप कामके प्रति वफ़ादार हैं—यह तो चाहिए ही। आप सदा हुक्म बजाते हैं—यह अनुशासनकी माँग है।

और तरक्क़ी......? यह तो 'मेरिट' यानी योग्यताकी बात है! अगर योग्यताकी बात न होती तो कालेजसे टटके निकले लड़के अफ़सरकी गद्दी कैसे पाते?

बायें बैठे हुए (और ऊँघते हुए) एक चपरासीका सिर रामचरण बाबूके कन्धेपर जा गिरा। सोचनेके क्रमको व्याघात लगा। मन तो झल्लाया पर क्या करते? आख़िर चपरासीको भी तो नींद आती है! उन्होंने चपरासीकी पेटीपर लगा पीतलका बल्ला पढ़ा—'अधिक खाद्य उपजाओ' विभागके अफ़सरका चपरासी है! आजकल सभी तरहके अफ़सर हो गये हैं—हरिजन-कल्याण अफ़सरसे लेकर आलू-विकास अफ़सर!

सारा जीवन तो इन्हीं अफ़सरोंके नखरे सहते-सहते बीत गया! रंग-बिरंगके अफ़सर और उनसे भी दिलचस्प उनकी बातें! रामचरण बाबूको याद आती है पन्द्रह-सोलह साल पहले की बात। अंग्रेज़ साहब था। पहले किसी ज़िलेका कलक्टर था—बादमें सेक्रेटरी होकर सेक्रेटेरियट आया। वह हमेशा जाने क्या-क्या लिखता। जब वह

काग़ज़ दस्तख़त कराने उसके पास जाता, वह कहता—"वेल मैन, बाहर खड़े रहो। अभी तुमको बुलाता हूँ।"

दो-दो घंटे हो जाते थे। खड़े-खड़े पैर दुखने लगते थे। वह बाहर हँसता हुआ निकलता—"वेल मैन, कल आना।" सप्ताहमें दो-तीन चिट्ठियोंपर वह सिर्फ़ दस्तख़त करता था। बाक़ी समय या तो पिये रहता या कुछ लिखता रहता। बादमें मालूम हुआ—वह लोक-गीतों पर किताब लिखता था और अंग्रेज़ीमें कविताएँ छपवाता था। एक दिन नौकरीसे इस्तीफ़ा देकर इङ्गलैण्ड चला गया।

अफ़सर बननेका स्वप्न तो रामचरण बाबूने भी देखा था—छोटा अफ़सर! सौदागर सिंह तो उसके साथ ही क्लर्क हुआ—पर आज तो वह अण्डर-सेक्रेटरी है! मोटरपर दफ़्तर आता है और उसके बच्चे 'कान्वेंट' में पढ़ते हैं। अब तो रामचरणको देखकर वह ऐसा मुँह बनाता है जैसे उससे कभीका परिचय न हो। बच्चूको नोट्स लिखने मैंने ही तो सिखाये थे। हमेशा 'बड़े भाई, मदद करो' कहकर अपनी फाइलें मेरे पास पटक जाता था।

स्वप्न बड़ा महँगा होता है! जवानीके सपनोंकी याद आती है। माँ-बापकी इच्छा थी—बेटा कम-से-कम दारोगा बन जाय! गाँवके रहनेवाले सीधे-सादे लोगोंपर दारोगाका आतंक कितना ज़बर्दस्त था! पर दारोगा बनना आसान नहीं था। उन दिनों दारोगा वही बन सकते थे जिनके बाप अफ़सरोंको डालियाँ दे सकते थे—जो कांग्रेस-आन्दोलनमें भाग नहीं लेते थे या जो 'राय बहादुर' या 'राय साहब' के रिश्तेदार होते थे।

बड़ी मुश्किलसे किसी तरह पेट काटकर माँ-बापने मैट्रिक तक शिक्षा दिलाई। दूसरी श्रेणीमें इन्ट्रेन्सकी परीक्षा पासकर रामचरण बाबू सेक्रेटेरियेटमें क्लर्क हो गये। उन दिनों ३०) रुपये वेतन मिलता था।

पर इसमें ही वे ख़ुश थे। रुपयेका दस सेर चावल था। एक रुपयेमें आठ सेर दूध मिलता था! वनस्पति-घीका तो नाम भी न था! उस समय गाल फूले रहते थे। काम करते मन थकता नहीं था। दुनिया सुन्दर लगती थी—आसमानका चाँद अच्छा लगता था। और पहली बच्ची शीलाका ख़ूबसूरत चेहरा देखकर वे कहते—"शीलाकी माँ, मेरी बिटियाने राजकुमारीका रूप पाया है! जब यह हँसती है तो फूल झड़ते हैं—रोती है तो मोती गिरते हैं! यह तो परी देशकी राजकुमारी है!"

लाजवन्तीको भी अपनी बेटीपर पूरा गर्व था। वह तो स्वयं अठारह सालकी युवती थी, पर पूर्ण युवती होनेके पहले ही वह माँ भी बन गई। लाजवन्तीके कारण रामचरण बाबू कहीं भटके नहीं। उन दिनोंके अपने कई साथियोंकी करतूतोंका उन्हें स्मरण है! वे रामचरणसे कहते—"तू पूरा गोबर-गणेश है! आफ़िससे छूटते ही लुगाईके आँचलमें जा छिपता है। भले आदमी, दुनियाके मजे ले लो। लुगाई तो अपनी है—वह कहीं भागी नहीं जाती!"

रामचरण बाबू सिर्फ़ मुसकरा देते। ऐसी बातोंके उत्तर वे सिर्फ़ अपनी मुसकराहटसे दिया करते थे। 'दुनियाके मजे' में दो चीज़ें प्रमुख थीं—सुरा और सुन्दरी! ये दोनों चीज़ें सस्ती थीं बाज़ारमें। पढ़े-लिखे 'बाबू' वर्गके लोग नाजायज़ ढंगसे कमाये गये पैसोंका सदुपयोग इन्हीं दो चीज़ों पर करते थे। शनिवारकी रात तो 'आनन्द' की रात थी। आधी-आधी रात तक वे रूपजीवाओंके कक्षमें सुरा पीते, उनके नूपुरोंकी रुन-झुनमें झूमते और ज़ेब खालीकर घर लौटते। उनकी धर्मपत्नियाँ भीतर ही भीतर कसकतीं, रोती-झींखतीं पर कुछ कहनेका साहस उन्हें नहीं होता। वे निम्न मध्यवर्गकी प्रायः अशिक्षिता नारियाँ थीं जिन्हें बचपनसे ही सिर्फ़ यही सिखाया गया था कि पति ही नारीका 'सब कुछ' है और

कामी, दुराचारी पति भी पूजनीय हैं। जो नारियाँ इन नियमोंका पालन नहीं करतीं वे नरकमें जाती हैं।

रामचरण बाबूके जीवनमें ऐसे अवसर नहीं आये जिनसे सुरा और सुन्दरीसे उनका परिचय हो पाता। नाजायज़ पैसे उन्होंने कभी नहीं छुये और 'लाजवन्ती' का आकर्षण ही उन्हें मदहोश रखनेके लिए काफ़ी था।

पहले-पहल गँवई-गाँवकी 'बालिकासे वधू' बन जानेवाली वह लाजवन्ती जब उनके घर आई थीं···बड़ी मधुर स्मृति है! अधगोरा रूप, गाँवकी सहज, सरल, सुन्दर मिट्टीकी गन्धकी तरह मोहक था। रामचरण बाबूने कभी कविता या उपन्यासके नायककी भाषामें उससे नहीं कहा—

"रूपसि! तेरे बाल-जालमें मेरे लोचन भटक गये हैं! तुम इन्द्र-धनुष-सी सुन्दर हो—कल्पना-सी सुकुमार हो!"

···और फिर शीलाका जन्म हुआ! बच्चीकी किलकारीमें मानो सारे भौतिक दुःखोंको भुलानेकी शक्ति थी। शीला उनकी प्यारी और सबसे ख़ूबसूरत सन्तान है। आज वह भी अठारह सालकी हो चुकी। उन्नीसवाँ लगेगा! पिछले तीन वर्षोंसे वर ढूँढ़ रहे हैं। चोरबाज़ारमें जिस प्रकार अन्न-वस्त्र, सीमेण्ट-लोहाके भाव बढ़े, मध्यम वर्गके बाबू सम्प्रदायके व्यक्तियोंने अपने 'वरों' के मूल्य भी बढ़ा दिये! प्रचलित बाज़ार-भाव अजीब हैं—

नौकरीमें लगा हुआ 'बाबू' कुमार—६ से १० हज़ार।

बेकार ग्रेजुएट कुमार—३ से ५ हज़ार।

बेकार मैट्रिक कुमार—२ हज़ार।

नगद राशिके अतिरिक्त 'माँग' में ये वस्तुएँ भी सम्मिलित हैं—

मोटर साइकिल, रेडियो, साइकिल, घड़ी, सोनेके बटन, गर्म सूट (जाड़ेके लिए) और रेशमी सूट (गर्मीके लिए) इत्यादि।

यह निम्न मध्यवर्ग भी अजीब कोटिका वर्ग है। त्रिशङ्कुकी कहानी बचपनमें पढ़ी थी। यह जाति भी उसी प्रकार समाजके भीतर लटकी है। निम्न वर्गसे यह अपने को उच्च समझती है, अवसर मिलनेपर मध्यवर्गसे सटने की चेष्टा करती है और 'उच्च वर्ग' को भय एवं कामना की वस्तु मानती है।

पिछली लड़ाईके दिनोंमें इस जातिको थोड़ा फ़ायदा हुआ। ये राशन-विभागके क्लर्क हुए, परमिट-विभागमें डिस्पैचर हुए और सेठोंकी आढ़तोंमें मुन्शी हुए। स्वराज्य-प्राप्तिके पहले ही इस जातिके अनेक सौभाग्यशाली व्यक्तियोंने जगह-जायदाद ख़रीद ली, बच्चोंको कालेजमें पढ़ाना शुरू कर दिया और इनकी गणना 'मध्य-वर्ग' में होने लगी। कालेजके अध्यापक, डिप्टी मजिस्ट्रेट या ऐसे ही पदोंपर इस वर्गके युवकोंने अधिकार जमा लिया।

पर रामचरण बाबू कुछ न कर सके। दूसरी लड़ाई भी ख़तम हो गई और वे टुकुर-टुकुर ज़मानेको देखते रहे। वे सोचते रहे—आख़िर लड़ाइयाँ क्यों होती हैं? जो हाथ बम बरसाते हैं, वे क्या भूल जाते हैं कि उनके भी नन्हें-नन्हें बच्चे हैं—प्यारा घर-बार है—फूलोंकी क्यारी है? जङ्ग छेड़कर यह क्या अपना भला कर पाते हैं? यदि उन्होंने दूसरे देशकी भूमि पर अधिकार किया भी तो कितनी मँहगी क़ीमत पर? लाखोंकी लाशोंपर बनी साम्राज्यकी इमारत क्या सुन्दर दीखती है? यह विज्ञानके ज्ञानका कितना दुरुपयोग है!

रामचरण बाबू सिर्फ़ सोचते और समझते रह गये। उनके कुछ मित्रोंने सोचना-समझना बन्दकर अपनेको ज़मानेकी रफ़्तारमें बह जाने दिया। जब आँधी थमी तो देखा गया—उनके मित्रोंके शरीरपर चर्बी

बढ़ गयी है—उनकी धर्मपत्नियोंके गलेमें क़ीमती नेकलस चमक रहे हैं और उनके बच्चे हवाई बुशशर्ट पहनने लगे हैं।

और रामचरण बाबूने अपना चेहरा आइनेमें देखा तो मालूम हुआ—गालोंपर झुर्रियाँ पड़ने लगी हैं—आँखें धँस गई हैं और बाल आधे पक गये हैं। लाजवन्तीके पास सिर्फ़ दो साड़ियाँ बच गई हैं जिन्हें वह साबुनसे धो-धोकर पहनती है।

'अधिक अन्न उपजाओ' विभागका वह चपरासी पुनः उनके कन्धे पर आ लुढ़का। शायद अधिक अन्न खानेसे उसे गहरी नींद आ गयी थी। रामचरण बाबूसे रहा नहीं गया। उन्होंने उसके कानमें हल्की चिकोटी काट ली। चपरासी हड़बड़ाकर उठ बैठा। रामचरण बाबूने आँखें मूँदकर सोनेका उपक्रम किया। आँखें मलकर कुछ क्षणों तक वह संदिग्ध दृष्टिसे रामचरण बाबूकी ओर देखता रहा—फिर अपने-आप उसकी आँखें मुँद गयीं।

भागलपुर स्टेशनपर उतरकर उन्होंने मुँह-हाथ धोया। दो आनेका नाश्ता किया और दो आनेकी चाय पी। सुबहके नौ बज रहे थे। अपने इष्ट-देवका स्मरण करते-करते बताये गये पतेपर मुन्शी राधेलालके दरवाजे जा पहुँचे। बाहर काठकी कुर्सीपर २३-२४ सालका दुबला-पतला युवक फिल्मकी कोई मैगज़ीन पढ़ रहा था। उसने सलमें-सितारों-वाली बुशशर्ट पहन रखी थी। बाल लम्बे-लम्बे—साँवला चेहरा—आँखें छोटी, मुँहपर कोई आभा नहीं। एक अजनबीको अपनी ओर घूरते देख पूछा—"आप किससे मिलना चाहते हैं?"

"मुन्शी राधेलाल हैं?" रामचरण बाबूने जिज्ञासा की।

"हाँ हैं; कहिए क्या काम है?"

"बात उनसे ही करनी है।"

बाबू रामचरणकी ओर घूरता हुआ युवक भीतर चला गया।

थोड़ी देरमें एक स्थूलकाय प्रौढ़ सज्जन बाहर निकले। चश्मेके भीतरसे झाँकती उनकी आँखें व्यक्तित्वका परिचय दे रही थीं। जैसे कह रही हों—दुनियामें कच्ची गोली नहीं खेली! यह दुमंजिला मकान ऐसे ही नहीं बन गया!

मुन्शी राघोलालने पूछा—"आप......?"

"मेरा नाम रामचरण है। सरजू बाबूने यह पत्र आपके नाम दिया है।"

सरजू बाबू राघोलालके बहनोई होते हैं और सेक्रेटेरियटमें उनके सहकर्मी हैं। पत्रको एक ही साँसमें पढ़कर मुन्शी राघोलाल बोले—"आइए, आइए...आपका ही घर है। आपने पहले पत्र लिख दिया होता तो स्टेशनपर स्वयं हाजिर हो जाता। कहिये, रास्तेमें कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई...? अरे, ओ हरिया···बैठक घर भीतरसे खोल दे...।"

बैठक-घर खुला। हाँ, सजाया हुआ बैठक-घर है। एक ओर महात्मा गाँधी हैं, सामने सुरैयाकी तस्वीर है और बायीं ओर हनुमानजी राम और लक्ष्मणको अपने कन्धेपर बिठाकर उड़े जा रहे हैं। सारे घरकी रुचियाँ मानो इस ड्राइंग रूममें एकत्र हैं।

मुन्शी राघोलाल भी क्लर्क हैं। पर क्लर्क क्लर्कमें भी अन्तर होता है। मुन्शी राघोलाल कलक्टरके पेशकार रह चुके हैं। पर ही साल रिटायर हुए हैं! आजकल भगवत्-भजन करते हैं और 'कल्याण' के ग्राहक हैं।

रामचरण बाबूने ही बात शुरू की—"आपकी बड़ी तारीफ़ सुनी थी। आज दर्शनका भी सौभाग्य मिल गया।"

उत्तरमें मुन्शी राघोलालने बिना वजह दाँत निपोड़ दिये। बोले—"सब उस आनन्दकन्द मुरलीधरकी कृपा है।"

"पवनकुमारजी कहाँ हैं?" रामचरण बाबूने उनके सुपुत्रके दर्शन करने चाहे।

"अरे वाह ! उनसे ही तो आप बात कर रहे थे ! बड़ा कलाकार लड़का है। साहब, रेडियो आर्टिस्ट है, रेडियो आर्टिस्ट ! बाँसुरी बजानेका प्रोग्राम पटना रेडियोसे बराबर देता है...आपने तो उसका प्रोग्राम सुना होगा !"

रामचरण बाबूने कहना चाहा—"साहब मेरे पास तो रेडियो ही नहीं है—फिर प्रोग्राम कहाँसे सुनूँगा ?" पर सच्ची बात कभी-कभी अवसर-विशेषपर नहीं कही जाती। यह अनुभवने सिखा दिया है। बोले—"वाह, क्यों नहीं ! तभी तो आपसे याचना करने आया हूँ।"

मुन्शी राघोलालने उत्तर दिया—"हम सब आपकी सेवाको प्रस्तुत हैं। हनुमानजी चाहेंगे तो सब ठीक हो जायगा।"

मुन्शी राघोलालके इष्ट-देव हनुमानजी हैं। सम्भवतः इसीलिए आपने अपने सुपुत्रका नाम 'पवनकुमार' रक्खा है।

"कन्याके रूप और गुणकी यदि मैं तारीफ़ करूँगा तो आप समझेंगे—हर बाप अपनी बेटीकी ऐसी ही तारीफ़ करता है ! मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि अपना चरण-रज......"

मुन्शी राघोलालकी आदत थी कि गम्भीर बात वे अपनी आँखें बन्द कर करते थे। शायद ऐसा ही अवसर आ गया था। बोले—"रामचरण बाबू, आप तो हमारे बहनोईके मित्र हैं ! आपसे सम्बन्ध क़ायम करना मैं अपना धर्म समझता हूँ—पर आप तो दीन-दुनियाकी हालत जानते हैं। अभी कानूनगो साहबके यहाँसे कुछ दिन पहले रिश्तेका प्रस्ताव आया था। सात हज़ार नगद देनेको कहते थे। मैंने कह दिया—मैं तो कर्ण कायस्थके यहाँ लड़केकी शादी नहीं करूँगा—शादी श्रीवास्तव घरानेमें होगी।...मुरलीधरकी कृपासे आप श्रीवास्तव हैं। पर पाँच हज़ारसे कममें काम कैसे चलेगा, आप ही कहिए ? लड़का बी० ए० में पढ़ रहा है। पिछले साल स्वास्थ्य खराब हो जानेके

कारण मैंने उसे इम्तहान नहीं देने दिया ! साहब, आप यदि उसका बाँसुरी-वादन सुनें..."

रामचरण बाबूका श्रीहीन चेहरा और भी स्याह हो गया था। लगता था जैसे 'पाँच हज़ार' के दो शब्दोंने उनकी चेतनापर कसकर दो हथौड़े चला दिये।

दोनों चुप हो गये। दो मिनट तक कोई कुछ नहीं बोला। राघोलाल हुक्का गुड़गुड़ाते रहे। फिर उन्होंने आँखें मूँदकर कहा—"क्या करूँ रामचरण बाबू! अब आपसे क्या छिपाना? पवनकुमारकी छोटी बहन है—वह भी इण्टरमें पढ़ रही है। उसके ब्याहमें भी तो मुझे...।"

रामचरण बाबूने कोई उत्तर नहीं दिया। इस तर्कका कोई उत्तर उनके पास न था। सरजू बाबूने विश्वास दिलाया था कि बात पक्की हो जायगी। राघोलाल धर्म-कर्ममें विश्वास रखते हैं। पैसोंकी उन्हें कोई कमी नहीं। जीवनभर पेशकारी की और हज़ारों घूसमें कमाये। पाँच-पाँच मकान हैं जिनके चार सौ रुपये किराया आते हैं। गाँवमें सौ बीघेसे ऊपर खेत है। बैंकमें...

रामचरण बाबू चुपचाप गाँधीजी की तस्वीरकी ओर देखते रहे। गाँधीजीके जीवनसे उन्होंने प्रेरणा प्राप्त की थी। सत्य और ईमानदारी पर दृढ़ रहनेका बल उन्हें गाँधीजीके ही जीवन-चरित्रसे मिला था। गाँधीजीकी तस्वीर यहाँ भी लगी है। गाँधीजी तस्वीरमें मुसकरा रहे हैं—कितनी निर्दोष मुसकान है यह!

एकाएक रामचरण बाबू उठ खड़े हुए। उन्हें लग रहा था यदि यहाँ और अधिक ठहरना पड़ेगा तो दम घुट जायगा। राघोलालने हुक्का एक ओर रखते हुए पूछा—"क्या आज रुकियेगा नहीं?"

"जी नहीं, आज ही वापस लौट जाना है। कल ड्यूटी देनी है। कष्टके लिए क्षमा कीजियेगा।"

"अरे कष्ट किस बातका। कष्ट तो आपको हुआ। इसे तो अपना ही घर समझिए...सरजू बाबूको नमस्कार कह दीजिएगा। मैं उन्हें शीघ्र ही चिट्ठी लिखनेवाला हूँ।...हे आनन्दकन्द मुरारी..." कहकर मुन्शी राघोलालने ज़ोरकी एक जंभाई ली और चुटकी बजाते हुए बोले-"हे बजरङ्गबली!"

ड्राइंग रूमसे बाहर निकलते हुए रामचरण बाबूने देखा-पवनकुमारजी अभी भी फिल्म-पत्रिकाकी किसी अधनङ्गी अप्सराको तन्मय हो घूर रहे थे।

...बाहर निकलकर रामचरण बाबूको लगा जैसे भगवान्ने उनकी रक्षा कर ली! यदि पाँच हज़ार रुपयोंका वे बन्दोबस्त कर भी पाते तो ऐसे घरमें सम्बन्ध वे कभी नहीं करते। सारा वातावरण इतना कृत्रिम और ऊबा देनेवाला था कि वहाँ साँस लेनेमें भी तकलीफ़ मालूम होती थी। और फिर उनकी बेटी शीला...

शीला देव-प्रतिमा-सी सुन्दर है। सरल और शान्त। दुःख और अभावके बीच भी वह हँसती रहती है। कभी किसी बातकी शिकायत नहीं-कभी किसी बातका रोना नहीं। रंगीन कपड़ा नहीं पहनती। सादी साड़ीमें उसका रूप जैसे ज्योतिकी लौ की तरह प्रकाश बिखेरता है।

लौटकर वे फिर रेलवे प्लाटफार्मपर आ गये। गाड़ी मिलनेमें पाँच-छः घण्टेकी देर थी। दोपहर हो गई थी, पर खानेको जी नहीं चाहता था। मुँहका स्वाद जैसे कड़ुवा हो गया था-शायद सबेरे वनस्पति-घीमें तली दो आनेकी कचौड़ियोंने ज़ायका बिगाड़ दिया था।

चुपचाप टीनके 'शेड' में पड़ी लोहेकी बेंचपर आकर वे बैठ गये।

दूसरे दिन जब वे पटना वापस लौटे तो ऐसा लग रहा था मानो किसी लम्बी बीमारीसे उठे हों। लाजवन्तीने कोई प्रश्न नहीं किया। चुपचाप हाथ-मुँह धोनेके लिए लोटेमें पानी रख दिया।

शीला रसोई-घरमें खाना पका रही थी। एक उड़ती निगाह उसने अपने पितापर डाली और सब समझ गई। वह उन्नीस सालकी उम्रमें दुनियाकी बहुत-सी बातें जानने लगी थी। मैट्रिक पासकर पढ़ना बन्द कर दिया। पढ़नेकी तो बड़ी इच्छा थी पर कालेजकी फ़ीस-पुस्तकोंके दाम और कालेज-बसका किराया कहाँसे आता? दूसरी श्रेणीमें उसने मैट्रिककी परीक्षा पास की थी। साहित्यमें उसे बहुत अच्छे नम्बर मिले थे। यदि खाना पकाना और बर्त्तन माँजना न पड़ता तो वह अवश्य ही प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होती। और फिर उसके पास सारी पाठ्य-पुस्तकें भी तो नहीं थीं। अपनी सहेली अरुणाकी पुस्तकें वह उधार माँगकर पढ़ती थी।

अरुणा उसकी बड़ी प्रिय सहेली है। पिता कोई बहुत बड़े इञ्जीनियर हैं—नाम है हरवंश खन्ना। पंजाबी हैं, पर बिहार-सरकारमें पिछले बीस वर्षोंसे काम कर रहे हैं। बड़ा अच्छा बँगला है उनका। बड़ी अच्छी 'कार' है उनके पास। और वेतन भी शायद उन्हे डेढ़ हज़ारके लगभग मिलता है।

शीला तुलना करती थी—अरुणाके पिताको डेढ़ हज़ार मिलते हैं और उसके पिताको डेढ़ सौ। अरुणा रोज़ नई-नई शलवारमें आती। दुपट्टे भी जाने कितने रंग-बिरंगके थे। कभी-कभी साड़ियाँ भी पहनती और वे बहुत क़ीमती होतीं थीं। शीला सोचती—अरुणा (यद्यपि उसका

रूप शीलाकी तरह आकर्षक नहीं) अपनी पोशाकमें कितनी आकर्षक लगती है !

और फिर अरुणाका वह भाई—आनन्द ! पूरा नाम—आनन्दकृष्ण खन्ना । आजकल बी० एस० सी० फाइनलमें हैं । कितना ख़ूबसूरत है ! ओठोंपर मुसकराहट हमेशा खेलती रहती है । टेनिस तो इतना अच्छा खेलता है कि क्या कहने ! आजसे तीन साल पहले अरुणाने अपने भाईका परिचय उससे कराया था । वह स्कूलके बाद ज़बर्दस्ती उसे अपने घर ले गई थी । उसका जन्म-दिन जो था । तरह-तरहके उपहार उसे दिये गये थे । मोटरोंकी भीड़ लग गई थी । शीलाको बहुत सङ्कोच हुआ था । वह ख़ाली हाथ जो अपनी प्रिय सहेलीके घर गई थी ।

अरुणाने जब आनन्दसे परिचय कराया तो आनन्द शीलाको देखता रह गया था । शीलाको बड़ी झेंप आई थी । अरुणाने कहा था—"भैय्या, यह हमारी सहेली शीला है । कालेज ब्यूटी कम्पीटीशनमें फर्स्ट आई है ।"

शीलाने अरुणाके हाथमें चिकोटी काट ली थी । अरुणा बोली थी—"झूठ थोड़े कहती हूँ । क्यों भैया ?"

आनन्द सिर्फ़ मुसकराता रहा था । और फिर जब-जब वह अरुणाके घर गई—आनन्द उसे मुसकराता मिला था । उसकी आँखें कुछ कहना चाहतीं थीं—शीलाको रोमाञ्च हो आता था । एक विचित्र प्रकारकी अनुभूति होती थी और हृदय जैसे धड़कने लगता था । सोलह वर्षकी उम्रमें यह कैसा हलचल महसूस होता था ?

साहित्यमें रुचि होनेके कारण वह कविताओंमें दिलचस्पी लेती थी । स्कूल लाइब्रेरीमें कविताओंकी अनेक पुस्तकें थीं । महादेवीकी कविताएँ बड़ी भाती थीं । उन कविताओंकी लक्षणा एवं व्यञ्जनासे वह परिचित नहीं थी, पर उनमें वह एक ऐसी स्निग्धता पाती थी जिससे उसका

मन तरल हो जाता था। आनन्दसे परिचय होनेके बाद—बहुत दिनों तक महादेवीकी एक पंक्ति उसके मनमें मँडराया करती थी—

'कौन तुम मेरे हृदय में ?'

कभी-कभी वह घण्टों रातको जागती रहती। चाँदनी रातोंमें वह कभी पूरी नींद नहीं सोती। चाँदको देखती। मानो वह उससे प्रश्न करती—'कौन तुम मेरे हृदयमें ?'

पर मनका चाँद आकाशके चाँदकी तरह ही ऊपर आसमानमें हँसता नज़र आता।

गोधूलिकी वह स्मृति आज भी मनको आलोडित कर जाती है। अरुणाके ड्राइङ्ग रूममें वह बैठी थी। अरुणा चायके लिए नौकरको आदेश देने भीतर चली गई थी। आनन्द और शीला ड्राइङ्ग रूममें अकेले थे। आनन्द आँखें चुराकर उसे देख रहा था। हाथमें कोई पत्रिका थी। उसकी आड़में वह उसे देख रहा था। शीलाका हृदय धड़कने लगा था।

एकाएक पत्रिका बन्दकर आनन्दने बड़े संयत स्वरमें कहा—"आपका एक फोटो लूँगा। यदि आपको कोई आपत्ति न हो···"

शीला चुप रही।

आनन्दने कहा—"आप ब्यूटी कम्पीटीशनमें झूठ फर्स्ट नहीं आई थीं। मैं इसे 'वीकली' में छपवाऊँगा। मुझे भी फ़र्स्ट प्राइज़ मिलेगा।" और यह कहकर वह फिर मुसकराया था।

शीला शर्मसे लाल हुई जा रही थी। आनन्द बोल रहा था—"आपकी आज्ञाके बिना यह काम तो नहीं हो सकता! अगले रविवारको दिनमें आप आनेकी तकलीफ़ करेंगी···?"

शीलाने आनन्दकी ओर आँखें उठाकर देखा था और फिर खिल-खिलाकर हँस पड़ी थी। उसे बड़ा कौतुक लगा था। बोली—"अरुणाने

झूठ कहा है ! स्कूलमें कोई ब्यूटी कम्पीटीशन नहीं हुई और न मैं उसमें फ़र्स्ट आई हूँ । अरुणा तो मुझे यों ही बनाती है ।"

"मैं किसे बनाती हूँ री !" कहते हुए अरुणा कमरेमें आ गई थी ।

शीला बोली—"मुझे और किसे ? उस दिन तुमने ब्यूटी कम्पीटीशन वाली बात कही थी न—उसे ये सच मान रहे हैं !" कह वह फिर हँस पड़ी थी ।

"झूठ थोड़े कहा था !"

"चलो हटो । इसी बातपर ये मेरा फोटो खींचना चाहते हैं ।"

"ओह, यह बात है—बात यहाँ तक पहुँच चुकी है ।" अरुणाने शरारतसे अपनी बड़ी-बड़ी आँखोंमें विस्मय डालकर कहा ।

उस दिन बात वहीं दब गई । चायके बाद अरुणाके पिताकी कार उसे घर पहुँचा गई ।......

"बेटा, खाना तैयार है ?" रामचरण बाबूकी आवाज़ आई ।

शीलाको एक झटका लगा । बोली—"हाँ बाबूजी, मैं अभी लेकर आती हूँ ।"

किसीने भागलपुर-यात्राके परिणामकी चर्चा नहीं की । लाजवन्ती तीसरी बच्ची 'सावित्री' की चोटी ठीक कर रही थी । उसे स्कूल जाना था ।

शीलाने पिताके लिए थाल लगाई और चुपचाप छोटे टेबुलपर उसे रख आई । बिना कुछ कहे रामचरण बाबू खाने लगे ।

दोपहरकी उदासी तो काटे नहीं कटती । प्रमिला और सावित्री स्कूल चली गयी हैं । पिताजी दफ्तर गये । माँ छोटे बच्चेको दूध

पिलाते-पिलाते सो गई है। बाक़ी भाई-बहन चबूतरेपर गुड़िया-गुड़िया खेल रहे हैं। शोर-गुलके थमनेके बाद जैसे जीवनमें सन्नाटा आ गया है।

शीलाने एक पुरानी कहानी-पत्रिकामें मन लगाना चाहा। पर मन कहीं जमता नहीं। सोचती है—नियतिका खेल कब तक चलता रहेगा?

मैट्रिक पास करनेके बाद शीलाने अध्यापिका बनना चाहा—पर इसके लिए माँ-बाप तैयार नहीं हुए। उन्हें भय था कि अध्यापिका बन जानेपर लड़कीको जन्म भर कुँवारी रह जाना पड़ेगा। कालेजमें आगे पढ़ानेकी सामर्थ्य उनमें नहीं थी। फलतः माँके काममें हिस्सा बँटानेके अतिरिक्त और दूसरा उपाय न था।

दो वर्ष यों ही गुजर गये। विवाह कहीं पक्का नहीं हो पाता। कभी-कभी मनमें बड़ी झुँझलाहट होती—यह कैसा समाज है जिसमें विवाहके बिना कोई सद्गति ही नहीं। पुरुष ही नारीका एक मात्र आधार है।

बीच-बीचमें अरुणा आती। आजकल वह बी. ए. के पहले सालमें है। कालेज-जीवनकी दिलचस्प बातें बताती। उसके लिए कालेज-लाइब्रेरीसे नये-नये उपन्यास और कविताकी पुस्तकें ला देती।

अरुणा बड़ी आकर्षक लड़की है। घमण्ड उसे छू नहीं गया है। सच्ची मानेमें सहेली है। कभी इस तरहका आभास नहीं देती कि वह एक बड़े बापकी बेटी है। और वह आनन्द...

नाम-मात्रसे ही शरीरमें एक सिहरन हो जाती है। उसने शीलाका फोटो लिया था। एक कापी उसे भी दी थी। यह बात माँ तकको नहीं मालूम। माँ तो कभी अनुमति नहीं देती। फोटो उसने एक पुरानी किताबमें छुपा रक्खा है। फोटो देखकर वह स्वयं मुग्ध हो उठी थी। वह इतनी सुन्दर है। आनन्दने सच कहा था...

दूसरे ही क्षण मन करुणासे भर गया था। ऐसा क्यों होता है? आनन्दकी बात सोचते ही मनमें हर्ष और विषादका ऊहापोह क्यों होता है?...

जाड़ेकी धूप प्यारी लगती है। पर इस धूपमें एक अजीब-सी उदासी भी है। कहानी पढ़नेका जी नहीं चाहता। आजकलके लेखक जाने कैसी कहानियाँ लिखते हैं! लेखकने दिखलाया है कि एक विवाहिता लड़की अपने दो सालके बच्चेको छोड़कर अपने पुराने प्रेमीके साथ बम्बई भाग गई। लड़का 'माँ माँ' चीखता था और लड़केका अभागा बाप उसे चुप करानेका प्रयत्न कर रहा था। इसके बाद कहानी पढ़नेका जी नहीं करता।...ऐसा भी कहीं हुआ है? माँ अपने बच्चेको छोड़कर प्रेमीके साथ भाग जाय?... तो क्या माँकी 'ममता' झूठ है? पतिका प्रेम प्रवञ्चना है और 'प्रेम' इतने घृणित रूपमें उभर सकता है?...

बाहर चबूतरेपर खेलते बच्चोंमें मार-पीट हो गई थी और अजयने पुष्पा एवं सुधाके खिलौने फेंक दिये थे। शोर-गुल शुरू हो गया था और बच्चे खूब चीख रहे थे।

माँकी नींद टूट गई थी। सोये-सोये ही बोली—"देख तो शीला... अजयको क्या हो गया है?"

सुधा माँकी बात सुनकर मुसकरायी। अजयको कुछ नहीं हुआ है। चूँकि वह 'लड़का' है इसलिए माँ हमेशा उसीका पक्ष लेती हैं। अजय उधमी है, पर बड़ा प्यारा है। किसी बातपर वह अजयको नहीं डाँटतीं। दूध सिर्फ़ अजय और मुन्नेके लिए आता है। माँ कहती हैं—लड़कियाँ दूध नहीं पीतीं।"

माँकी बातें सुनकर सुधाको हँसी आती है। लड़कियोंको क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए—इसकी एक लम्बी सूची माँके पास

है। लड़कियोंको घी नहीं खाना चाहिए—लड़कियोंको झगड़ा नहीं करना चाहिए—लड़कियोंको ज्यादा नहीं खेलना चाहिए इत्यादि। पर इन निषेधोंका मूल कारण वह समझती है। सब बच्चोंको दूध और घी दे सकें—इतने पैसे बाबूजी को नहीं मिलते। फलतः ये नियम बना दिये गये हैं।

शीला बाहर चबूतरे पर आई। सुधा चीख रही थी—"दीदी, अजय भैय्या ने मेरी गुड़िया का मोती ले लिया।"

पुष्पा सुबक रही थी—"अजय भैय्याने मेरे गुड्डेमें लगे मोरका पंख छीन लिया।"

शीलाने पूछा—"क्यों अजय, तुमने इनकी चीजें ली हैं?"

"दीदी...मेरे घोड़े को यह लंगड़ा घोड़ा कहती थीं। मुझे ये चिढ़ाती हैं।" अजय का प्रतिवाद था।

बच्चोंमें सुलह कराकर शीला फिर अपने कमरे में जा लेटी। अभी तो दो बजे हैं। दोपहरको नींद नहीं आती। समय कैसे कटे?...माँके साथ गप-शप करने पड़ोसकी जो प्रौढ़ाएँ आतीं शीलाको उनकी बातोंमें कोई रस नहीं मिलता। इन औरतोंका दायरा बड़ा ही संकीर्ण एवं स्वार्थ भरा रहता।

लल्लनकी माँ जब देखो तब दुनियाका रोना शुरू कर देती—"क्या कहूँ बहन! कैसा ज़माना आ गया है। आलूके भाव बारह आने सेर—भिण्डी एक रुपये—टमाटर सवा रुपये—" या नहीं तो—"क्या कहूँ अजयकी माँ, अब तो भगवान् इस दुनियासे उठा ले तभी शान्ति मिले! दुनियामें किसीका विश्वास नहीं करना चाहिए। अरे ओ...लोहानीपुर की शान्तिकी माँ है न...तीन महीने हो गये...पाँच रुपये उधार ले गई थी। लेते समय बड़ी गिड़गिड़ाई थी। बोली 'लल्लनकी माँ, मेरी लाज तुम्हारे हाथमें है। आरासे लोग शान्तिको देखने आये हैं। और घरमें

एक छदाम भी नहीं। उन्तीस तारीख को घरमें क्या रह सकता है?' ऐ बहन! मैंने तरस खाकर पाँच रुपये दे दिये। आज तीन महीने हो गये—लौटानेका नाम नहीं लिया...कल अचानक गङ्गाजीके घाटपर भेंट हो गई। मैंने कहा—रुपया क्यों नहीं लौटाती? तो तमक कर बोली—'राह-घाट में क्यों टोकती हो लल्लनकी माँ। शान्तिके बाबूजी बीमार हैं। हाथ तङ्ग है। तुम्हारे पाँच रुपये मारकर मैं धन नहीं बटोर लूँगी।'...लो कहो! उल्टा चोर कोतवालको डाँटे!"

और फिर वह लाड़ोकी माँ! वह मानो पड़ोसियोंके ही दुःखमें डूबी रहती है—"तो अभीतक शीलाके लिए बात कहीं पक्की नहीं हुई अजयकी माँ! हे भगवान्! शीला तो उन्नीसकी हो चुकी! इसीलिए बहन—मैंने अपनी लाड़ोका ब्याह पन्द्रह सालमें ही कर दिया। मिडिलके आगे नहीं पढ़ाया—अरे लड़कीको ज़्यादा पढ़ाने-लिखानेसे फ़ायदा? उसे कोई अफसरी तो नहीं करनी...चूल्हा-चक्का, घर-गृहस्थी ही लड़कीका धर्म है। लाड़ोका दूल्हा स्कूलमें मास्टर है। ७५) तनख़्वाह मिलती है। लाड़ो एक बच्चेकी माँ बन गई है और भगवान्‌की कृपासे फिर उसके पैर भारी हो गये हैं।...लाड़ो तो शीलाकी ही जोड़की है—बल्कि एकाध-महीना हमारी लाड़ो ही छोटी है।...और बहन...जवान लड़की को घरमें रखना पाप कहा गया है। शास्त्रोंमें लिखा है। पंडितजी कहते थे—आठ वर्षमें ही लड़कीका ब्याह हो जाना चाहिए...पर आजकल दूसरी हवा चली है। पुरानी बातें कोई नहीं मानता और इसीलिए तो हम सभी दुःख भोग रहे हैं—रुपयेका दो सेर चावल—डेढ़ सेर दूध। यह सब हमारे ही कियेका तो फल है!..."

शीलाको इनकी बातोंसे ऊब आने लगती। उसे लगता जैसे इनकी बातोंसे एक अजीब तरहकी बदबू निकलती है। यह बदबू वह सह नहीं पाती और उसका सिर दुखने लगता।

यहाँ लाडोकी माँ उसकी माँसे जाने एक कैसे सम्बन्धकी चर्चा कर रही थी। कहती थी—"तुम किस-किसके कहनेमें पड़ी हो! मेरी बात मानो तो फिर रोज-रोजकी हाय-चिन्ता मिट जायगी—लड़का 'दुआह' है तो क्या! पुरुष-बच्चेकी भी कोई उमर देखी जाती है! 'लाडोके' बाबूजी मुझसे इक्कीस साल बड़े हैं। और फिर तिलक-दहेजके झंझटसे बच जाओगी। मेरे भाईका दोस्त है वह। यही ४०-४५ की उमर होगी। सरकारी ठेकेदार है—लाखोंका कारबार चलता है। पर एक भी बच्चा नहीं। सारे धनकी रानी तो शीला रहेगी।...मैं तो बहन—पड़ोसनका धर्म निबाह रही हूँ। नहीं तो उसे लड़कियोंकी क्या कमी? एक-से-एक ऊँचे घरमें उसकी शादी हो सकती है।"

शीलाका कलेजा 'धक्' से रह गया था।

भय और आशंकासे शीला सिहर गई थी। उसने चाहा कि लाडोकी माँको धक्का देकर घरसे बाहर निकाल दे। पर संस्कार ऐसे थे कि ख़ूनके घूँट पीकर रह गई।

...लड़का? दुआहा है, ४५ की उमर है! पुरुष-बच्चेकी उमरका क्या लेना! पुरुष बच्चा!

पुरुष-बच्चेका थोड़ा-बहुत परिचय उसे मिल भी गया था। पन्द्रहवें सालमें एकाएक एक दिन उसे लगा—पुरुष उसे क्यों 'घूरते' हैं! इस 'घूरनेका' अर्थ बड़ा घिनौना था। इसमें एक ऐसा रहस्य छिपा था जिसका उद्‌घाटन होते ही वयःसन्धिकी दहलीजपर खड़ी शीलाका चेहरा लाल हो उठा...और तब बहुतसे रहस्य जैसे एकाएक खुल गये... शादी क्यों होती है...बच्चे कहाँसे और किस प्रक्रियासे आते हैं...यह प्रेम क्या है और ये सारी कविताएँ क्यों लिखी जाती हैं। उन सारी हरकतों, संकेतों एवं मुसकराहटोंके अभिप्राय क्या हैं? स्कूलसे उसके

जाते या लौटते वक़्त वकील साहबका लड़का 'गाना' क्यों शुरू कर देता था...अधबूढ़े लोलुप आँखोंसे उसकी ओर क्यों देखते थे और नौजवान तमोलीको एकाएक खाँसी क्यों उठने लगती थी !

और विवाहका उद्देश्य उसके सामने प्रकट हो गया। हो-हल्ला बाजे-गाजेके बीच दो अजनबी प्राणियोंको एक-सूत्रमें बाँधनेका लक्ष्य क्या है ?......

तो प्रेमका क्या यही यथार्थ रूप है ? आनन्द उसे क्या इसीलिए अच्छा लगा था ? आनन्दको क्यों वह चोरी-चोरी आँखोंसे देखना पसन्द करती थी ?...उसे देखते रहनेपर भी तृप्ति नहीं होती थी।

शीलाने एक उसांस ली और आँखें मूँदकर करवट बदल ली।... ...आनन्दसे यदि उसका विवाह हो जाये...कपोल-कल्पना है। बौना होकर चाँद छूनेका प्रयास है...वे पंजाबी हैं—हम बिहारी हैं—वे खत्री हैं —वह कायस्थ है—उसके पिताजी डेढ़ हजार रुपया कमाते हैं—शीलाके पिता ! छोड़ो इस तुलनामें क्या रक्खा है ? बेकार माथापच्ची करनेसे फ़ायदा ?

वह दूसरी कहानी पढ़ेगी। कहानीका शीर्षक है—'प्रेम-पत्र' ! विदेशी लेखककी कहानीका अनुवाद है।...कहानी पढ़नेका जी नहीं चाहता। सोचते रहनेका मन करता है...सोचनेमें बड़ा अच्छा लगता है। यदि इसी तरह सोचते-सोचते आदमी ख़तम हो जाये तो कितना अच्छा रहे...मनके भीतर कितनी बातें दबी पड़ी हैं। उलझी-उलझी बातें। सुलझाते जाओ पर क्रम कभी ठीक नहीं होता। गुत्थीपर गुत्थी निकलती जाती है।...

...कि माँने पुकारा—"शीला...चार बज गये। उठेगी भी या चारपाई तोड़ती रहेगी ? एक घण्टेमें सभी चाय और नाश्तेके लिए हल्ला

करेंगे...इस लड़कीके लक्षण ही समझमें नहीं आते...जाने चुपचाप क्या सोचती रहती है। अब उठ भी।"

शीला खिन्न मनसे उठ गई। अब जो चूल्हेमें घुसेगी तो रात नौ-दस बजेके पहले फुर्सत नहीं मिलने की। इन दिनों दाई भी बर्तन माँजने नहीं आ रही। सभी काम उसे ही तो करने हैं।

खाना-पीना ख़तम होनेपर उस रात देर तक माँ और बाबूजीमें बातें होती रहीं। शीला सोनेका बहानाकर दीवालसे कान लगाये बैठी थी। उसे पता था कि बात उसके ही सम्बन्ध की होगी।

माँ ने कहा—"अब तो और सहा नहीं जाता। लाड़ोकी माँकी बात मान लो।"

पिताने कहा—"नहीं नहीं...यह तुम क्या कह रही हो? लड़की को आगमें झोंक दूँ?"

माँ बोली—"अब तो सारी कोशिश कर हार गये। मुँहजली ऐसे ही भाग लेकर आई है तो हम क्या कर सकते हैं?"

पिता बोले—"एक साल और...अगले लगन तक..."

माँ बरस पड़ी—"तुम्हारी बुद्धि सठिया गई है। बीस साल तक जवान बेटी छातीपर बैठाये रक्खोगे और फिर अगले लगन का क्या भरोसा। तीन साल तो हम सब्र कर चुके!"

उसके बाद निस्तब्धता छा गई। दोनों चुप हो गये।

पुलिस लाइनका घड़ियाल बारह बजा रहा था। जाड़ेकी अंधेरी रातमें घण्टेका स्वर बड़ा स्पष्ट था और ऐसा लग रहा था मानो कहीं बहुत निकटसे वह बजाया जा रहा हो।

शीलाको जैसे काठ मार गया था। भय और आशंकाका बीज पनप गया था और 'दुआह' पुरुष-बच्चा उसके जीवन में...। नहीं वह ऐसा नहीं होने देगी। प्रतिवाद करेगी। क्या वह कोई मूक पशु है कि जिसके गलेमें चाहो बाँध दो? उसकी आशा-आकांक्षाका कोई मूल्य नहीं? वह चिल्लाकर माँ-बापसे कह देगी—"तुम लोग ऐसा नहीं कर सकोगे। तुम लोग जो काम करने जा रहे हो वह कसाई का काम है। मैं इस तरह अपना अपमान नहीं सह सकती......"

और यदि वह भाग जाय...? शीलाको रोमांच हो आया। जाड़ेकी इस अंधेरी रातमें भागकर वह कहाँ जायगी, किसके पास...? आनन्दके पास...? शरत् बाबूकी पार्वती अपने देवदासके पास ऐसी ही एक अँधेरी रातमें गई होगी...पर... ? नहीं, ऐसा तो वह कभी नहीं कर सकेगी। गंगाकी धारामें अपनेको डाल देगी—पर यह काम कभी नहीं कर सकेगी ...और यदि वह विवाह न करे? ऐसा कभी हो सकता है? उसके बाद भी तो दो बहनें ब्याह लायक हो रही हैं—उनका भविष्य वह अपने स्वार्थके लिए क्यों नष्ट करेगी? उसके समाजमें ऐसा नियम नहीं। जब तक बड़ी बहन ब्याह न कर ले छोटी बहनका विवाह नहीं होता।

शीलाको रुलाई आने लगी...हे ईश्वर, वह क्या करे, कहाँ जाय? कैसे इस व्यूहसे निकले? गला दाबकर वह आँसू बहाती रही। उसके साथ चारपाईपर सबसे छोटी बहन पुष्पा सोती है। चार सालकी भोली बच्ची। नींदमें वह बेसुध थी।

रात शीलाकी रोती आँखोंमें कट गई। भोर होनेके साथ ही जीवनका मेला शुरू हो गया। प्रकृतिने रंग-बिरंगके खिलौने फैला दिये

थे। पूरबका आकाश कुंकुम बिखेर रहा था, चिड़ियाँ चहकने लगी थीं और समीर धीरे-धीरे डोल रहा था। अनादि कालसे सृष्टिका यह क्रम चला आ रहा है। हर भोरमें सूरज एक नई आभा लेकर आता है—हर रात अपने साथ सहस्रों मानव-मनकी कालिमा ले जाती है। कालिमा ढोते-ढोते वह स्याह हो गई है। हर भोरमें सूरज अपने साथ आशाकी असंख्य किरणें लाता है। निराश मानवको आशाकी ये किरणें नव-जीवन प्रदान करती हैं। प्रभात दुख भुलाकर कार्यरत होनेकी प्रेरणा देता है।

पर मानव-मनकी व्यथाकी क्या कोई सीमा है? कुछ दर्द ऐसे होते हैं जो हृदयमें अहर्निश टीसें मारते हैं। कोई कोई घाव ऐसा होता है जिसका कोई मुँह नहीं होता और वह भीतर ही भीतर पकता है—फूटता नहीं। ऐसे घावकी पीड़ा मर्मान्तक होती है।

शीलाका भाव भी ऐसा ही कोई घाव है। कुछ कह नहीं सकती, कुछकर नहीं सकती, रो नहीं सकती, न चीखें मार सकती है। चुपचुप, गुमसुम ज़हर पीते जाओ।

प्रभात बड़ा सुन्दर था। प्रकृति बड़ी मनोरम थी। लगता था जैसे सप्तरथी भास्कर प्रचण्ड पौरुष बिखेरता हुआ आकाशमें बढ़ा जा रहा है। ऐसा दृश्य मनको मोहता है। सुबहमें जाड़ेका सूरज बड़ा आत्मीय प्रतीत होता है।

पर शीलाके मनमें अभी भी घोर तिमिर था। लगता था जैसे इस अँधेरेमें वह भटक जायगी। सुनहले सूरजकी रोशनी वहाँ तक नहीं पहुँच पायेगी। सारे भविष्य पर जैसे कुहरा छा गया। इस कुहरेके बीच कुछ नजर नहीं आता। सारे स्वप्न जैसे खो गये हों—सारी उमंगोंपर जैसे धुन्ध छा गई हो।

क्या होगा मेरा?...शीला नामकी एक गूँगी लड़की का?...

अवचेतन मनपर होनेवाली घटनाकी परछाईं पहले ही पड़ जाती है। चेतन मन इसे स्वीकार करना नहीं चाहता। कुरूपताओंको चेतन मन बड़ी तेजीसे भुलानेका यत्न करता है। पर सत्य पत्थरकी तरह सख़्त और नंगा होता है। सत्यपर कोई आवरण डालो—सत्य मुसकराता नज़र आयगा।

रामचरण बाबूने निराश होकर अपनी मौन सम्मति दे दी। लाजवन्ती सुबह-शाम-दोपहर लाड़ोकी माँके पास जाने लगी।

परिणाम यह हुआ कि एक दिन रामचरण बाबूके चबूतरेपर शहनाई बजने लगी।

लगन बीता नहीं था। लाजवन्ती इस अवसरको हाथसे निकलने देना नहीं चाहती थी। एक सप्ताहके भीतर ही सारी बातें तय हो गईं। दूल्हा लड़की देखने नहीं आया। उसने लाड़ोकी माँको लिखा—"दीदी, जब तुम हो फिर क्या कहना। तुमने जो फोटो भेजा है—वही बहुत है। तुम्हारा हुक्म तो मानना ही होगा।"

लाड़ोकी माँके मुँहसे मानो 'रनिंग कमेंटरी' निकल रही थी—"मैंने कहा अजयकी माँ, लड़कीके भाग खुल गये! अरे, तीन-तीन तो मोटर उसके पास हैं। छः मकान हैं। दर्जनों नौकर-चाकर। शीला रानी बन कर रहेगी। और ज़ेवरोंका क्या कहना! लाड़ोकी शादी अगर न हो गई होती तो मैं क्या ऐसा मौक़ा हाथसे जाने देती। सब भागकी बात है अजयकी माँ! गहनोंसे तुम्हारी शीला लदी रहेगी—पलंगसे नीचे पैर रखना नहीं पड़ेगा..."

लाजवन्तीका हृदय भीतर ही भीतर रो रहा था। बातें वह सब

समझ रही थी। पर और चारा क्या था? हृदयपर पत्थर रखकर वह मुसकराये जा रही थी। शीलाके बाद भी तो चार लड़कियाँ हैं। पर साल प्रमिला भी सत्रहकी हो जायगी—सावित्री पन्द्रहकी होगी।

रामचरण बाबूको शहनाई चीखती-सी लगती थी। बाजे-गाजे उनका मजाक उड़ाते-से लगते थे—शीलाको तुम देवकन्या मानते थे न? आज उसीका बलिदान करने जा रहे हो। छिः तुम कितने नीच और गिरे हुए हो रामचरण...मोटे-मोटे आँसू आँखोंमें छलक आते। रामचरण बाबूकी आँखोंमें आँसू वर्षोंसे नहीं आये। जाने कितने अत्याचार उनपर हुए—जाने कैसी-कैसी यातनाएँ सहनी पड़ीं—पर वे रोये कभी नहीं। अपना दुःख वे मुसकराकर प्रकट करते थे। जब कोई दुःखकी बात होती वे मुसकराते—हलकी-सी, संकुचित-सी मुसकान ओठोंपर फैल जाती। पर आज मोटे-मोटे आँसू ढुलक रहे हैं—गर्म-गर्म आँसू...लगता है जैसे असीम व्यथा का बाष्प, जल-बिन्दुका रूप ले रहा है।

विवाहके गीत गाये जाने लगे। पड़ोसकी ललनकी माँ—रज्जनकी काकी—महेसरकी बुआ सभी रिश्तोंकी स्त्रियाँ आईं और अपने कर्कश कर्णकटु स्वरमें गीत गाने लगीं—

हे बिलोकु सखिया
लाल-पीत जामा जोरा देखु सखिया
हे देखु सखिया
मुखवाके पनमा बिलोकु सखिया
हे बिलोकु सखिया......

ढोलककी बेसुरी आवाज़में बेसुरा गीत औरतें चीख-चीखकर गा रही थीं—वे निम्न मध्यमवर्गकी अशिक्षिता महिलाएँ थीं जिनका सारा जीवन बच्चे पैदा करने और फिर उन बच्चोंको बड़ा करने—शादी-ब्याह करनेमें बीत जाता है। इन औरतोंने पुस्तकोंके नामपर 'रामायण', 'महाभारत'

या 'सुखसागर' का नाम सुना है। किस्सा तोता-मैना, छबीली भटि-यारन या चन्द्रकान्ता-सन्तति तक उनकी शिक्षित अभिरुचि थी—जो सालमें एकाध-बार बाल-गोपाल सहित 'सती सावित्री' या 'सती पार्वती' जैसी फिल्में देखती हैं और चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण या मकर-संक्रान्ति जैसे पर्वों में गंगा-स्नान करती हैं। दूसरोंकी निन्दा या कलंक-चर्चा में उन्हें सहज आनन्द आता है और जो पतियों द्वारा बुरी तरह ठगी जाती हैं। 'पति' इनके लिए 'देवता' हैं। देवता महोदय अपना सम्बन्ध नौकरानियों या ऐसी अर्द्ध बाजारू औरतोंसे रखते हैं, पर जानकर भी ये अनजान बनी रहती हैं।

विवाह-जैसे अवसर इनके जीवनका चरम-आनन्द है। जो आनन्द रसज्ञ पाठकको काव्यकी 'मधुमती भूमिका' में होता है, सेठको अपनी भरी तिजोरीसे होता है और क्लर्कको हेड क्लर्क बननेमें होता है—वैसा ही मिलता-जुलता आनन्द इन देवियोंको ब्याहके मौक़ेपर होता है। इस मौक़ेपर अश्लील गालियां ये खूब गाती रही हैं। (आजकल अश्लील गानोंके स्थानपर सिनेमाकी सस्ती धुनोंपर आधारित गीत-प्रचलित हैं) और मुफ़्तकी वनस्पतिमें तली पूड़ी-मिठाइयाँ खा-खाकर अजीर्ण रोग मोल लेती हैं।

तो शीलाके ब्याहके अवसरपर भी यह होना स्वाभाविक था। यह प्रथा थी। और प्रथाओंकी तरह इनका पालन भी अनिवार्य था।

शीला यन्त्रवत् सारे आदेश मान रही थी। लगता था जैसे उसके सोचनेकी शक्ति नष्ट हो गई है।

अर्द्ध-शिक्षित पंडितके अशुद्ध रूपसे बोले गये मंत्रोंके बीच विवाह हुआ। वरने जब शीलाकी मांगमें सिन्दूरकी रेखा भरी तो वरका मोटा तथा कुरूप-सा दीखनेवाला हाथ वधूको चौंका गया। उसने आँखें मूँद लीं।

वरका परिचय कराना आवश्यक है। नाम एस. एल. श्रीवास्तव। उम्र ४७ साल। पेशा—कांट्रेक्टरी। शिक्षा—आठवीं फेल। लम्बा काला और गुलथुल। आंखें छोटीं, सिर खल्वाट। हाथमें सोनेकी अंगूठियाँ—हर वक्त पान खाते रहनेकी आदतसे बचे हुए दाँत स्याह लाल रंगमें रंगे हुए दीखते है। रोबीला-सा चेहरा है। हँसनेमें गर्वोक्ति झलकती है।

पूर्व इतिहास—शंकरलाल श्रीवास्तव (एस. एल. श्रीवास्तवका हिन्दीकरण) अपने पटवारी बापकी दूसरी सन्तान। पिता मुन्शी झरोखेलाल एक बड़े ज़मींदारके यहाँ पटवारी थे। अन्तिम समय तक ७) माहवार वेतन पाते रहे पर ललाइनके लिए हर महीने १०)का ज़ेवर ख़रीदते थे। कैसे और किस प्रकार रक़म आती थी—यह सभी जानते थे। स्वयं ज़मींदार तकको रहस्य मालूम था और इसीलिए वेतन बढ़ानेका आन्दोलन तत्कालीन पटवारी-वर्गने कभी नहीं किया।

शङ्करलाल हर क्लासमें दो-दो साल रुक जाते। जब वे आठवेंमें थे उनकी उम्र उन्नीस सालकी हो चुकी थी। सभी लड़कों पर शङ्करलालका रोब था। जवानीके बहुतसे प्राकृतिक और अप्राकृतिक रहस्योंसे उनका परिचय हो चुका था—'मोहिनी' छाप बीड़ीका बन्डल उनकी जेबमें हमेशा रहता और माँ की सन्दूक़से पैसे उड़ानेका गुर उन्होंने छोटी उम्रमें ही सीख लिया था।

जब मुन्शी झरोखेलालने देखा कि बेटेको 'अफसर' बनानेका उनका स्वप्न पूरा नहीं हो सकेगा तो हार मानकर उन्होंने पथरौल ग्रामके पटवारी मुन्शी बनवारीलालकी कन्या रामप्यारी देवीसे उनका विवाह कर दिया।

शङ्करलालने पठन-पाठन को तिलाञ्जलि दे दी। शादीके बाद एक

साल यों ही बीत गया—उधर मुन्शी झरोखेलालका एक दिन भगवान्‌के यहाँसे बुलावा आ गया। गाँवमें हैजा फैला हुआ था। हैजेकी सुई देनेके लिए जब सैनीटरी इन्सपेक्टर आया तो मुन्शी झरोखेलालने कहा—"सारा जीवन तो बिना किसी टीका या सुई के बीत गया। आखिरी वक़्तमें सुई नहीं लूँगा।" परिणाम यह हुआ कि दोपहरको एकाएक कुछ उल्टियाँ हुईं, कुछ दस्त हुए, और झरोखेलाल इस संसार को नमस्कार कर गए।

शङ्करलाल इकलौते बेटे थे। एक बड़ी बहन थी जिसका विवाह पिता कर गये थे। जब पिता मरे तब तो दस-पन्द्रह हजारकी रक़म छोड़ गये थे। ७) रुपये मासिक पानेवाले पटवारीके लिए यह काम एक तिलस्म करने-जैसा था, पर ऐसे तिलस्म शायद हर पटवारी उस समय करते थे।

बापके मरनेपर शङ्करलालको दीन-दुनियामें प्रवेश करना पड़ा। छः महीने शोकमें निकल गये। एक दिन माँ रोते-रोते बोली—"बेटा, जो होना था सो हो गया। अब मरने वालेकी लाज रक्खो। कुछ करो-धरो। इस तरह हाथपर हाथ धरकर बैठनेसे तो कुबेरका ख़ज़ाना भी ख़तम हो जायगा।"

बेटेको शायद बात लग गई। उसका एक पुराना सहपाठी डिस्ट्रिक्ट बोर्डमें किरानी हो गया था। एक दिन जब वह छुट्टीसे गाँव लौटा तो उसने शङ्करलालको कहा—"मेरी सलाह मानो तो ठीकेका काम पकड़ो। रुपयेमें आठ नहीं तो छः अठन्नियाँ तो कहीं गई नहीं हैं। इस काममें मैं तुम्हारी मदद करूँगा। बाक़ी दो अठन्नियाँ 'पूजा' में चढ़ाओ।"

गाँवमें बैठे-बैठे शङ्करलालका मन ऊबने लगा था। खेती-गृहस्थीमें उसका मन नहीं रमता था। फलतः अपने मित्रके साथ वह शहर चला आया और 'पूजा' की विधि प्रारम्भ कर दी।

उन दिनों 'बड़े साहब' डालियोंसे बहुत ख़ुश होते थे और टेंडर उसीकी मंजूर होती थी जिसकी डाली सबसे आकर्षक होती थी।

सौभाग्यवश शंकरलालजीकी डालियाँ साहबोंको पसन्द आती गईं और शंकरलालजीकी जेबें भारी होती गईं।

दस वर्ष के अन्दर मिस्टर एस. एल. श्रीवास्तव की गणना 'रईसों' में होने लगी। शहर में आलीशान मकान उन्होंने बनाया। एक मोटर गाड़ी भी ख़रीद ली और डालियों के बजाय अब वे अपने घरपर पार्टियाँ देने लगे।

पैसोंके साथ ही 'रईस' के वे सारे गुण उनमें आ गये। 'सुरा' और 'सुन्दरी' से उनका प्रगाढ़ परिचय होता गया। रूपकी हाटकी चुनी हुई सुन्दरियाँ उनकी सेवाके लिए तत्पर रहतीं और विदेशों का बहुमूल्य 'सोमरस' उनके कण्ठको शीतल करता।

पत्नी रामप्यारी देवी बहुत खिन्न रहतीं। एक असफल प्रसवके बाद उन्होंने खाट पकड़ ली। डाक्टरोंने कहा—इन्हें राज-रोग हो गया है।

शंकरलालजीके सौभाग्यसे दूसरा महायुद्ध छिड़ गया। स्वत्वकी रक्षाके लिए एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रपर बम बरसाने लगे। सभी न्याय और सत्यकी दुहाई देते थे। सभी सभ्यताकी रक्षाके लिए नन्हे बच्चों, औरतों और असहायोंपर गोलाबारी करते थे। सभी राष्ट्रोंके रेडियो 'सफेद सत्य' का प्रचार कर रहे थे।

कुछ देशोंमें लोग गोलाबारीसे मरे, कुछ अन्नके बिना मरने लगे। भोजनपर 'कंट्रोल' लगा दिया गया—वस्त्रोंको पहननेपर पाबन्दी लगा दी गई। नतीजा यह हुआ कि कलकत्ता या ऐसे ही स्थानोंकी फुटपाथें लाशोंसे भर गईं और अधनंगी स्त्रियाँ बाज़ारोंमें घूमने लगीं।

शंकरलालजी को इस अवसर पर डाली वाले अफ़सरोंने बड़ी मदद पहुँचाई। कंट्राक्टरी वे अब भी करते थे। पर इस बार का रूप कुछ बदला हुआ था। सीमेंट, लोहा, अनाज, दवा—हर प्रकारकी कंट्रोलकी दुकानें उन्होंने खोल दीं और इसमें सरकारका सहयोग प्रदान

किया। अंग्रेज़ी सरकार उनके कामसे बहुत ख़ुश थी। 'जनताकी इस लड़ाई' में उन्होंने डटकर हिस्सा लिया। लड़ाई समाप्त होनेपर उन्हें पुरस्कार भी मिला। 'विक्टोरिया क्रास' भले ही न मिला—परिश्रमका फल तो मिला ही। उन्होंने छः बड़े-बड़े आलीशान मकान बना डाले—हर मकानमें लाख-डेढ़ लाखसे क्या कम ख़र्च हुआ। दो नई मोटरें हो गईं और बैंकका बैलेंस फूल-फूलकर कई बैंकों और कम्पनियोंमें फैल गया।

सुखकी ऐसी ही एक घड़ीमें, जब छठें मकानमें पूजा होनेवाली थी—रामप्यारीने संतोषसे अपने प्राण त्याग दिये। शङ्करलालजीको बड़ा दुःख हुआ और बड़ी धूमधामसे पत्नीका श्राद्ध किया।

सारा महल सूना था। साल बड़ी मुश्किलसे कटा। कहाँ-कहाँ से सम्बन्धी आकर घेरने लगे। बोले—"अभी आपकी उमर क्या है! कोई सहारा तो चाहिए और फिर आप सन्तानहीन हैं।...सन्तानके बिना......"

एक दिन जब हाथमें शीलाका फोटो आया तो शङ्करलालजी जैसे चौंक गये। ऐसा रूप तो उन्होंने कभी नहीं देखा था। बहुत देर तक वे उस चित्रको देखते रहे। दूसरे दिन ही सम्बन्ध स्थापित होनेके सिल-सिलेमें बातचीत होने लगी।

सारी बातें बड़े शान्त एवं संयम ढङ्गसे हुईं। कोई चहल-पहल उन्होंने नहीं की।

शङ्करलालजीने कभी किसी अख़बारमें पढ़ा था कि ब्रिटेनके एक भूतपूर्व प्रधान-मन्त्रीने अपनी दूसरी या पता नहीं कौनसी शादी अस्सी वर्षकी उम्रमें की थी। उन्होंने 'शैम्पेन' पीकर सोचा—अभी तो उनकी उम्र पचाससे भी नीचे है। मनको सान्त्वना देकर उन्होंने सोचा—मैंने ऐसा कौन-सा बुरा काम किया? राजे-महाराजे तो अपनी हवेलीमें बीसों

रानियाँ रखते हैं—रखनी या ऐसी नाजायज औरतोंकी बात जाने दीजिए। और फिर उन्हें कोई सन्तान जो नहीं है...

उस रात वे देरतक शैम्पेन पीते रहे और बीच-बीचमें फोटो भी देखते रहे। ऐसा लगता था कि ठर्रा पीनेवाला व्यक्ति कुछ 'चखना' भी शराब के साथ खाता है—शङ्करलालजी शैम्पेनके बीचमें फोटोका इस्तेमाल शायद उसी प्रकार कर रहे थे।

इति पूर्व-कथा समाप्त।

शीला अपने पतिके घर धनबाद आई।

नये महलमें आकर शीलाको लगा जैसे उसका सिर घूम रहा है।

तीन तल्लेकी कोठी है। अगल-बगल फूलोंकी क्यारियाँ हैं। नये ढंगका मकान है—बड़े खूबसूरत फर्नीचर हैं।

जिस समय वह पिताके घरसे अपने पतिके घर पहुँची—वह गोधूलि की वेला थी। सूरजकी डूबती आभाकी परछाईं कंक्रीटके बने उस आकर्षक बंगलेपर इन्द्रधनुषी छटाके समान लग रही थी। शान्त और कोलाहलसे दूर—शहरके उच्चवर्गीय लोगोंके छोटे-बड़े बंगले दूर-दूरतक वहाँ फैले थे। हर बंगला एक दूसरेसे काफ़ी अलग था।

शीलाका हृदय अज्ञात भयसे धड़क रहा था। लगता था जैसे सारा ब्रह्माण्ड ज़ोरोंसे चक्कर खा रहा है और वह केन्द्रमें खड़ी घिरनीकी तरह घूम रही है। सपनोंका कारवाँ थम चुका था। कुमारी होनेकी चेतना के दिनसे आजके दिनतक न जाने कितने सपनोंके साथ वह खेलती रही थी। रंग-बिरंगके वे सपने थे। उनमें कन्हैयाकी मुरलीकी गूँज थी—गोपियोंके रासका कलरव था, महादेवीकी कविता थी, कौमार्यकी अंगड़ाई थी।

एकाएक बड़े ज़ोरोंका एक बवंडर आया—रेगिस्तानकी रेत आई–झंझाका अट्टहास सुनाई दिया। सारे सपने बिखर गये। कारवाँ जाने कहाँ भटक गया था! जाने कौन मनके अपर पार्श्वसे अट्टहास किये जा रहा था–कौन है यह? यह तो 'आनन्द'का मुख नज़र आता है! आनन्द...तुम? तुम्हीं यह भयानक हँसी हँस रहे हो? कबसे तुम मेरे मनके पर्देमें छिपे थे? हँसनेका तुम्हें यही अवसर मिला था?...

गोधूलिके बाद श्यामा सुन्दरी धरतीपर उतर आई। बंगलोंमें बिजलियाँ जल उठीं। कमरोंसे रेडियो ग्रामकी आवाज़ आने लगी। रात ने अपने ऊपर और भी काली चादर ओढ़ ली।

शीलाका कलेजा धक्-धक् करता ही रहा।

बंगलोंकी बत्तियां बुझ गईं। हल्का-सा लैंप बाहर पहरा देता रहा। किन्तु बंगलेके सभी कमरोंकी रोशनी गुल हो गई और वहां स्याह-सन्नाटा छा गया।

शीलाका सिर घूमता रहा। अँधेरी रातमें एक लम्बी, डरावनी छाया उसकी ओर बढ़ी। दोनों हाथोंसे उसने शीलाको दबोच लिया।

शीलाकी चेतना शून्य-सी हो गई।

सबेरे जब शीलाकी आँखें खुलीं तो लगा–रातको उसने एक भयानक दुःस्वप्न देखा था। उसने सोचा–वह छाया कौन थी? उसने क्यों उसे अपनी बाहुओं में जकड़ लिया था और उसके कपोल पर किसने जलते हुए अंगारे रख दिये थे...? वह ज़ोर देकर सोचती रही...सोचती रही और एकाएक चौंककर उठ बैठी और अपनी अञ्जलियोंमें मुँह छिपाकर सिसकने लगी।......

इतने में आवाज़ आई–"क्यों घरकी याद आती है?"

शीलाने चौंककर सिर उठाया–अरे यह तो वही दुःस्वप्नवाली छाया है।

छाया मन्द-मन्द मुसकरा रही थी।

मनुष्य-चरित्रके कई पहलू होते हैं। कोई व्यक्ति-विशेष बिलकुल 'सु' या 'कु' नहीं होता। वह ज़माना बीत गया जब हम 'आदर्श' व्यक्तिमें केवल अच्छाइयाँ ही देखते थे और 'दुष्ट' में मात्र दुष्टता, मानव-मनके नवीन ज्ञान मनोविज्ञानने इस रहस्यमय लोकपर ज्ञानका तीव्र आलोक फेंका है।

एस. एल. श्रीवास्तवके चरित्रमें भी कई पहलू थे। वे भावुक भी थे और साथ ही हिंस्र भी। कोई अच्छी-सी गजल या गीत सुन कर वे सिर हिलाते थे। ग़रीब विद्यार्थियोंके लिए हर वर्ष एक अच्छी सी रक़म वे शिक्षा-संस्थाओंको दान देते थे। उनकी रुचि संभ्रान्त थी। शैम्पेनके नशेमें उनका पशुत्व जागता था और शंकरलाल का परिधान बदल जाता था। उनके व्यक्तित्वमें एक आकर्षण था। प्रौढ़ावस्थाकी सीमा पार करनेपर भी उनके चेहरे पर एक सम्मोहन जैसा भाव था जो नये लोगोंको अपनी ओर खींचता था।

शीलासे जब वे मिलते—मुसकराते हुए मिलते। नई और क़ीमती साड़ियां, प्रसाधन-सामग्री और बहुमूल्य आभूषणोंका उपहार वे प्रायः रोज़ लाते। शीलाकी मुख-मुद्रामें विशेष परिवर्तन न देखकर उन्होंने एक दिन पूछा—"पिताजीके यहाँ जाना चाहती हो?"

"नहीं।" शीलाका शान्त उत्तर था।

"तुम ख़ुश नहीं हो?"

शीलाने उत्तरमें सिर्फ़ अपनी आंखें उठाकर पतिदेवकी ओर देखा। इस प्रश्नका क्या उत्तर हो सकता था?..

पिताके यहाँसे पत्र आया था। प्रमिलाके हाथका लिखा पत्र था और माँने लिखवाया था–

"बेटी,

हर लड़की अपना-अपना भाग्य लेकर आती है। आदमीको चाहिए कि भाग्यसे संतोष करना सीखे। असंतोष करनेसे दुःखके अलावा हाथ कुछ नहीं लग सकता। अब तुम्हारा वही घर है–वही वर है–वही दुनिया है। मनको दुखी मत रखना। तुम्हारी–माँ"

नीचे प्रमिलाने भी कुछ पङ्क्तियाँ लिखी थीं–

"दीदी,

अब तो तुम रानी बन गई हो। मोटरपर घूमती हो, बँगलेमें रहती हो। शायद ग़रीब बहनोंको याद करनेकी फुर्सत नहीं मिलती। तुम्हें यह जानकर बड़ी ख़ुशी होगी कि आजकल रेडियोके ड्रामेमें मैं भाग लेती हूँ। १६ फरवरीको रात सवा नौ बजे एक नाटकमें हिरोइनका पार्ट कर रही हूँ। समय मिले तो सुनना। अजय तुम्हारी बड़ी याद करता है और रोता है। तुम्हारी–प्रमिला"

पत्र पढ़कर मन और भी उदास हो गया। कुछ काम भी तो नहीं करना पड़ता कि मन बझा रहे! तीन नौकर हैं–दो नौकरानी हैं। वे आउट-हाउसमें रहते हैं। दो नौकरोंकी स्त्रियाँ ही नौकरानीका काम करती हैं। पुराने नौकर हैं। जानकी थोड़ी प्रगल्भ है। बातें ख़ूब करती है। हमेशा कुछ न कुछ बोलते रहना उसका स्वभाव है। हँसमुख है। दो बच्चोंकी माँ है पर गंभीरता उसे छू नहीं गई। जिस दिन उसने शीलाको 'बहूरानी' कहकर पुकारा उस दिन तो शीला जैसे भौंचक रह गई थी। बहूरानी......

शीलाने सोचा–सुख तो यही है न। और क्या चाहिए उसे? किस बातका अभाव है जिसके कारण वह मुसकरा नहीं सकती? क्यों ऐसी

इच्छा होती है कि बैठे ही बैठे उसकी आँखें मुँद जायँ और वह इस दुनियासे कहीं दूर चली जाये !

एक एक कर दिन गुजरते गये और तीन महीने बीत गये।

शङ्करलालजीने अपने प्रयत्नमें कोई कमी नहीं आने दी फिर भी वे शीलाको अपने निकट नहीं पाते थे। लगता था जैसे शीला यंत्रवत् उत्तर देती है--उनके साथ कभी-कभी 'पिक्चर' भी चली जाती है। पर वह कोई दूसरी शीला है जो बेजान है--बेरस है और बिल्कुल शीतल है।

एक दिन उन्होंने पूछा--"बाहर घूमने चलोगी ?"

शीलाने उत्तर दिया--"जैसी आपकी इच्छा।"

शङ्करलाल मुसकराकर बोले--"और तुम्हारी कोई इच्छा नहीं ?"

"आपकी इच्छामें ही मेरी इच्छा है।"

शङ्करलालजी चुप हो गये। अब इसके बाद और कौन-सा प्रश्न किया जा सकता है ? फलतः बाहर जाना नहीं हुआ।

शीला अब और भी अधिक अन्तर्मुख हो गई। चुपचाप ऊपरी तल्ले के कमरेमें बैठी बाहर देखती रहती। सुबहसे शामतक सिर्फ़ यही काम तो बचा था।

तीसरे बँगलेकी खिड़कीसे एक और युवती जाने क्यों झाँकती रहती। बहुत स्पष्ट नहीं देखा जाता पर लड़की कभी कूदती...कभी तालियाँ बजाती--कभी चीख़ती !

जानकीने बतलाया--"आप उसे नहीं जानतीं बहूरानी ? वह बंगालिन है। पगली है। उसके बाप जज हैं। लड़कीको ऊपरकी कोठरीमें बन्द रखते हैं। शादी हुई थी पर दूल्हा इसे कभी अपने घर नहीं ले गया। सुना--लड़ाईमें मर गया।" दूल्हा मर गया...

"वह क्या बचपनसे पागल थी ?"

"नहीं बहूरानी...दूल्हेके मरनेकी ख़बर सुनकर पाँच-छः दिन गुम-सुम रही फिर ठहाका मारकर हँसने लगी और पागल हो गई..."

शीलाने आगे सवाल नहीं पूछा। दूल्हेके मरने पर लड़कियाँ पागल हो जाती हैं...

यदि उसका दूल्हा मर जाय...? छिः, ऐसी बातें नहीं सोचनी चाहिए। सोचनेसे पाप लगता है। सावित्री तो यमराजसे अपने पतिके प्राण लौटा लाई थी और वह...

मनकी गति भी विचित्र है। वह जाने कैसी बेकार बातें सोचने लगता है। पतिके मरनेपर तो पत्नी विधवा हो जाती है... विधवा... कितनी दयनीय दशा होती है विधवाओंकी! शीलाके स्कूलमें एक मिस्ट्रेस विधवा थीं। बीस सालकी उमरमें ही विधवा हो गईं। सादी धोती पहनती थीं–कभी मुसकराती नहीं थीं और कक्षामें इतिहास पढ़ाया करती थीं। लड़कियाँ उन्हें 'देवीजी' के नामसे पुकारती थीं। बीस साल तक मास्टरनीका काम करते-करते उनका चेहरा बिल्कुल सूखा हुआ लगता था। इतिहासकी सारी घटनाएँ बिना किताब देखे बताती थीं। उनका चेहरा देखनेसे डर लगता था। चालीस सालकी उमरमें वे साठ वर्ष की बुढ़िया लगती थीं। दुनियामें उनका कोई न था। वे हमेशा स्कूल कम्पाउंडके होस्टल-सुपरिंटेण्डेण्टवाले कमरेमें रहती थीं। किसी बातपर उन्हें हँसी नहीं आती। कभी-कभी मुसकराती थीं–पर उनका मुसकराना बड़ा डरावना लगता था।

यह पागलपन...पगली लड़की चीखकर कोई गाना गा रही थी। पता नहीं क्या गा रही थी! पागलपनकी स्थितिमें कुछ याद नहीं रहता। पागल व्यक्ति जो चाहे कर सकता है, सोचने-समझनेकी शक्ति जो उसके पास नहीं रहती।

यदि वह पागल हो जाय तो...

छिः, बुरी बातें नहीं सोचनी चाहिए। वह भला क्यों पागल होने लगी? उसका तो सौभाग्य क़ायम है। पर पतिको देखकर उसे लाज क्यों नहीं आती? नई लड़कियाँ तो अपने पतिसे बहुत शरमाती हैं। वह इन्दु थी न...मैट्रिक क्लासमें जब वह पढ़ रही थी—तभी उसका ब्याह हो गया था। ब्याह होनेपर भी वह क्लासमें आती रही। वह तो जाने कैसी-कैसी रोमांचक कहानियाँ सुनाया करती थी।...पति उसे गुदगुदाता है...जाने प्रेमकी कैसी-कैसी बातें करता है और उसके जूड़ेमें अपने हाथसे फूल गूँथ देता है...इन्दुकी कहानियाँ वह तन्मय होकर सुनती थी। परी देशकी रूपकथाओंकी तरह उनमें सपनोंका राज था, फूलोंकी सुरभि थी और झरनोंका कल-कल नाद था। वह भी अपने दूल्हेका चित्र सपनोंके रंगोंसे बनाया करती थी। पर हर बार उसका रूप जाने 'आनन्द' जैसा क्यों हो जाता था?

आनन्दसे उसकी कभी खुलकर बातें नहीं हुईं। पर मौन रह कर भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। इसे ही क्या प्रेम कहते हैं? कहते हैं प्रेमको जिह्वा नहीं होती। पर कपोल-कल्पनासे फ़ायदा? जो बात हो नहीं सकती थी, उस बातके लिए माथापच्ची करनेसे क्या लाभ?...

अब तो यही उसका वर है, यही उसका वर है। सिन्दूरकी रेखा अमिट होती है। हिन्दू लड़कीके लिए पतिके अतिरिक्त और कोई गति नहीं है।

शीलाने मांको पत्र लिखा—

"माँ,

तुम्हारी बेटी सुखी है—उसे किसी बातका दुःख नहीं। ऐसे-ऐसे क़ीमती गहने मिले हैं कि क्या बताऊँ। आँखें चौंधिया जाती हैं। फर्नीचर तो इतने ख़ूबसूरत हैं कि जितनी तारीफ़ करो, थोड़ी है। हर वक़्त नौकर-दाई हुक्म बजानेके लिए खड़े रहते हैं। मोटरपर घूमती हूँ।

भर दिन या तो किताबें पढ़ती हूँ या रेडियो सुना करती हूँ। अपना समाचार देती रहना। तुम्हारी—शीला।"

और साथ ही प्रमिलाके नाम एक चिट्ठी भी भेजी—

प्रमि,

उस दिन रेडियोपर तुम्हारा नाटक सुना था। मैं तो सुनकर हैरान रह गई कि तू इतना अच्छा पार्ट कर सकती है। तू तो बिलकुल सीधी-सादी लड़की है। डायलाग तो ऐसे बोल रही थी जैसे जीवनमें नाटक छोड़कर और कुछ किया ही नहीं है। तू तो बड़ी उस्ताद निकली!

नाटकके साथ ही पढ़नेपर भी ध्यान रखना। तू तो अच्छी स्टूडेंट भी है। फर्स्ट डिवीज़नसे कम नहीं आना चाहिए। साबो, रतन, पुष्पा, सुधा और अजयको प्यार।

तुम्हारी—शीला

जीवनकी गतिमें कभी-कभी ऐसे व्यवधान आते हैं कि आदमी विवश हो जाता है और उसे राह बदलनी पड़ती है। भविष्यका पट बड़ा दीर्घ है। आदमीको यह पता नहीं रहता कि 'आज' जो उसके सामने है 'कल' या तो उसका रूप बदल जाता है या उसके स्थानपर कोई और ही चीज़ आ खड़ी होती है। इसीलिए चिन्तक और जीवन-दर्शनके अनुभवी पंडित कह गये हैं कि हमें क्षणोंमें जीना चाहिए। वर्तमान ही पूरा सत्य है। बाक़ीको अल्प-सत्य कहा जा सकता है। बाक़ी सभी सन्दिग्ध और मृग-मरीचिका सिद्ध हो सकते हैं।

शीलाके नीरस, एकरस जीवन-सरमें किसीने एक कंकड़ डाल दिया। निस्तब्ध, मौन जलमें कम्पन हो उठा और सारा जल तरंगित होने लगा। कंकड़ फेंकनेवाला वह व्यक्ति सुधीर था।

एक सुबह मोटरपर उसे पतिदेव स्टेशनसे ले आये थे। वह कलकत्ते से आया था। पतिने चायके टेबुलपर परिचय दिया—"यह सुधीर है। मेरे बचपनके दोस्तका छोटा भाई। कलकत्तेमें 'फिल्म डिस्ट्रीब्यूशन' का काम हम साझेमें कर रहे हैं। यह तो मेरे छोटे भाईके समान है।"

शीलाने आँखे उठाकर शिष्टाचार निभानेके लिए हाथ जोड़ दिये। चेहरा देखकर एक सिहरन-सी हुई। साधारण चेहरा नहीं लगता। उसकी आँखोंमें कोई सम्मोहन-शक्ति है। वह बड़ी बेतकल्लुफ़ीसे बातें करता था तथा मुसकरा रहा था। लगता था जैसे मुसकराहट उसकी आदतमें शुमार है।

पतिने कहा—"सुधीर तो अपने घरका आदमी है। हम इसे बचपनसे जानते हैं। कितनी उमरमें तुम घरसे भाग गये थे सुधीर?"

सुधीरने मुसकराकर जवाब दिया—"ठीक याद तो नहीं आता भाई साहब—यही ग्यारह-बारहकी उमर रही होगी! उस समय सातवाँ पास किया था।"

"और तुम जेल भी तो गये थे?" पतिने चायकी चुस्की लेकर कहा।

"ओ...जेल!..." सुधीर हँसकर शीलाकी ओर देखते हुए बोला—"आप यह मत समझ लीजियेगा भाभी कि हम चोरी या जेब काटनेके जुर्ममें जेल गये थे। हम तो '४२ के आन्दोलनमें शरीक हुए थे और हमने रेलकी पटरी उखाड़ी थी।"

भाभी...शब्द कुछ अटपटा-सा लगा था—फिर भी बुरा नहीं लगा। शीला ने मुँह उठाकर मुसकरानेका प्रयास किया। विवाह के छः महीने बाद वह मुसकराई थी।

सुधीर ने कहा—"सिर्फ़ मैं ही खाये जा रहा हूँ। आप तो कुछ नहीं ले रहीं।"

पतिने मुसकराकर कहा—"वे डरती हैं कि अधिक खाने से मोटी हो जायेंगी।"

शीलाने पुनः मुसकरानेका प्रयत्न किया—मानो उसे यह परिहास पसन्द आ गया हो।

उस दिन चायके बाद शीलाको ऐसा लगा कि जीवनके भीतर सूनापनका जो अथाह मरुस्थल था, उसपर कुछ बूँदें टपक गईं।

सुधीर एक सप्ताहके लिए वहाँ आया था। उस क्षेत्रमें कुछ नई फिल्मोंका प्रदर्शन होने जा रहा था और इसी सिलसिलेमें वह बातचीत करने आया था। शंकरलालजीने लड़ाईके बाद अपना कुछ रुपया इस धंधेमें भी लगा रखा था। सुधीर उनका पार्टनर था और इस धंधेमें पैसा बहुत मिल रहा था। सुधीरकी ईमानदारीके वे कायल थे। जब कंट्रोल उठ गया और 'काला बाजार' उजला होने लगा तो शंकरलालजी को चिन्ता हुई। एक सफल व्यवसायीकी तरह चिन्ता इस बातकी हुई कि रुपयोंको कहाँ लगाया जाय ? ठेकेदारी में बहुत-से मीन-मेख निकल आये थे। भ्रष्टाचार-विरोधी कार्रवाइयाँ बढ़ गई थीं और अफ़सरोंके साथ कंट्रेक्टर भी डर गये थे। स्वाधीन होनेपर देशमें एक दूसरे प्रकारकी हवा बहने लगी थी। राह चलता भिखारी भी अपने अधिकारोंकी बात करता था। पुलिसका रोब कम हो गया था, अफ़सरोंकी उतनी इज्ज़त नहीं रह गई थी और धनी लोगोंके प्रति एक वर्ग बराबर घृणा फैला रहा था।

इतने में एक दिन निरंजनने अपने छोटे भाई सुधीरसे परिचय कराया। निरंजन वर्मा उनके बड़े-पुराने बन्धु थे। उन्होंने ही पहले-पहल जिला-बोर्ड में ठीकेदारीका काम दिलाया था। निरंजन स्वयं एक पैसेवाला व्यक्ति हो गया था और उसने तेलकी एक मिल खोल ली थी।

सुधीरकी बात शंकरलालको जँच गई। पचास हज़ार रुपया इस व्यवसायमें लगानेको वे तैयार हो गये। सुधीर कल्पवृक्ष साबित हुआ। तीन साल में एक लाख रुपयोंका मुनाफा हुआ।

सुधीरको जनताकी रुचिकी परख थी। ऐसी ही फिल्में वह लेता जो 'बाक्स आफिस हिट' मानी जातीं। जनता क्या चाहती है? एक ही सवाल वह बराबर फिल्मके चुनावके समय करता?... जनताके कई रूप हैं और वह कई चीजें चाहती हैं। मसलन—

शहरों और कस्बोंके विद्यार्थी: ऐसी फिल्में, जिनमें नायिका या अभिनेत्रियाँ अपने अंगोंका अधिकसे अधिक प्रदर्शन करती हैं...

मजदूर वर्ग : जिनमें सस्ते और चलते रोमांस-भरे गाने हों।

विवाहित लड़कियाँ : जिनमें अवैध प्रेमकी कहानी हो

अर्द्ध बुद्धिवादी-वर्ग : जिनमें वर्ग-संघर्षकी रुमानी कहानी हो—मसलन एक गरीब किसानका बेटा किसी राजा या रईसकी बेटीसे मुहब्बत करता है और अन्तमें रईसकी बेटीको उससे छीन लेता है। इत्यादि :

सुधीरका घोषणा-पत्र था : वह व्यवसायी है—जनताकी नैतिकता का ठीकेदार नहीं। वह वैसा ही माल देगा जैसा जनता चाहेगी। और अपने व्यवसायमें वह असफल नहीं रहा। वह जीवनमें बहुत भोग चुका था। जीवनके कड़वे अनुभवने उसे सिखा दिया था कि दूसरोंकी चिन्ता करनेका अन्तिम फल यही मिलता है कि तुम्हारी चिन्ता कोई नहीं करता। तुम अगर यह देखने में लगे रहे कि दूसरोंको भरपेट खाना मिला है या नहीं, तो तुम्हें स्वयं भूखा रहना पड़ेगा। विचित्र है इस समाजका ढांचा...अद्भुत है मूल्यांकन

की इसकी कसौटी।......जीवनमें इतनी ठोकरें खाईं कि अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ा। ग़लत या सही, वह नहीं जानता—पर आज उसकी गणना सभ्य लोगोंमें है क्योंकि उसके पास 'कार' है—रहनेका अच्छा-सा फ्लैट है और वह शार्क-स्किनका सूट पहनता है।

सुधीर एक सप्ताहके लिए आया था, पर वह पन्द्रह दिन तक रुक गया। धीरे-धीरे वह शीलाके बहुत निकट आ गया या शीला खिंच कर चली आई—कहा नहीं जा सकता।

सिगरेटके धुँएँको छल्लेका रूप देता हुआ कहता—"भाभी, यह जीवन भी एक मज़ाक है। भगवान्को जब मज़ाक करना होता है वह धरतीपर उसे 'इन्सान' का रूप देता है।"

शीलाको उसकी बातोंमें बड़ा रस मिलता। सुधीरकी आँखों में कोई 'हिप्नोटिक' शक्ति थी। शीला उससे आँखे नहीं मिला पाती। जाने कैसा डर लगता। पता नहीं—सुधीरकी उम्र क्या थी। वह २५ सालका भी लगता और ३५ सालका भी। पर वह सुदर्शन था और उसकी मुसकराहट बड़ी उत्तेजक थी। उसकी आँखोंमें कोई नीला रहस्य-सागर था जो बतलाता था कि यह आदमी कोई साधारण-क़िस्म का व्यक्ति नहीं है।

गर्मी पड़ने लगी थी। भर दिन उत्तप्त हवा बहती। रात मधुमय हो जाती। बँगलेके लानमें कुर्सियाँ लग जातीं और फिर दुनिया-भरके विषयपर बातें होतीं। कभी-कभी शंकरलालजी आवश्यकता-वश इस गोष्ठीमें सम्मिलित नहीं हो पाते। उस समय शीलाका चेहरा थोड़ा स्वस्थ हो जाता—मुसकराहट झाँकने लगती और वह सुधीरकी बातोंमें बड़ी दिलचस्पी लेती।

एक चाँदनी रात थी। शंकरलालजी किसी कम्पनीके शेयस-होल्डर्स मीटिंगमें गये थे। सुधीरने कहा—"भाभी, चाँदनी रातमें आप कितनी अच्छी लग रही हैं!"

शीलाको एक विचित्र पुलककी अनुभूति हुई।

सुधीर कहता गया—"पता नहीं, क्यों ऐसा लगता है कि आप मेरी बहुत आत्मीय हैं। बचपनमें ही माँ मर गई। माँका प्यार नहीं मिला। कोई बहन नहीं थी और इसलिए बहनका स्नेह भी प्राप्त नहीं हुआ। बचपनमें ही गाँव छोड़कर कलकत्ते भाग गया। कलकत्ते के बाद जाने और कितने शहरोंमें भटका। भूखा रहा—दो-दो दिन तक फाकाकशी की। फुटपाथपर सोया—ज़िन्दगीमें केवल कटुता ही मिली। लोगोंसे बनावटी प्रेम पाता रहा। पर...जाने दीजिए... अपना राग क्यों सुनाऊँ?"

सुधीर चुप होकर सिगरेट पीता रहा।

शीलाने आँखें उठाकर सुधीरकी ओर देखा—गेहुएँ रंगका छर-हरा—सुडौल युवक है। किसी फिल्मका हीरो-सा उसका रूप है और उसकी आँखें...

इतने दिनोंके परिचयने शीलाको थोड़ा मुखरित कर दिया था। बोली—"आप विवाह क्यों नहीं कर लेते?"

"विवाह?" सुधीर मुसकराया—"विवाहसे जीवनमें प्रेम आता है मैं इस तर्कको नहीं मानता। हमारे यहाँ दो अजनबी विवाह-सूत्रमें बँध जाते हैं और फिर प्रेम ढूँढ़ते हैं। इनका सारा जीवन प्रेमकी प्रवंचना करते बीत जाता है। मैं एक बात पूछूँ—आप बुरा तो नहीं मानेंगी?"

शीला चुप रही।

सुधीरने कहा—"अपना ही उदाहरण आप ले लीजिए..."

शीलाका चेहरा तमतमा उठा। बोली—"व्यक्तिगत उदाहरण आप क्यों रखते हैं?"

सुधीर हँस पड़ा। बोला—"बात आपके सम्बन्धमें है, इसलिए आपको बुरी लगी। मेरा आशय था कि हमारे यहाँ जो विवाह होते हैं वे अधिकतर ढोंग हैं। हम सिर्फ़ एक दूसरेको छलते हैं।"

शीलाका आवेश कम नहीं हुआ था। बोली—"तो आप सारे विवाहको ग़लत समझते हैं?"

"मैं तो अपने समाजकी बातें कर रहा था। माफ़ करेंगी, मैंने बहुत निकटसे लोगोंके विवाहित जीवनको देखा है और इसी आधारपर मैं ये बातें कह रहा हूँ। एक-दो नहीं—सौ-हज़ार नहीं—वरन् लाखों-करोड़ों व्यक्ति ढोंगका जीवन बिताते हैं—झूठी मर्यादाओंके लिए वे अपने भीतर का सत्य नहीं कह सकते।"

शीलाको लगा—सुधीरकी बातें हल्की नहीं हैं।

सुधीर कहता गया—"विलायतका एक बहुत बड़ा लेखक हो गया है—बर्नार्ड शा। शायद आपने उसका नाम सुना हो। वह कहता है कि—"विवाह एक क़ानून-सम्मत वेश्यावृत्ति है।"

शीलाका चेहरा लाल हो गया।

सुधीर सिगरेटकी राख झाड़ते हुए बोला—"बहुतसे सच ऐसे होते हैं जिन्हें हम सहन नहीं कर पाते और इसलिए झूठके चारों ओर हम ऐसा पर्दा डाल देते हैं कि वह सच दीखने लगे। हमारे यहाँ विवाहकी प्रथाने ऐसा ही रूप ले लिया है।...एक दूसरेको जानते नहीं—एकके हृदयमें दूसरेके प्रति कोई स्वाभाविक अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ फिर भी वे प्रेमका ढोंग निभाते हैं।"

शीलाको ऐसा लग रहा था कि ये तीर उसीको लक्ष्यकर छोड़े जा रहे हैं। वह मर्माहत हो गई। क्या यह सत्य नहीं था...क्या उसका जीवन एक विराट् झूठसे घिरा हुआ नहीं था?

सुधीर कह रहा था—"आप यह मत समझिए कि मैं पागल-सा प्रलाप कर रहा हूँ। यह बात भी सच है कि कुछ विरले ऐसे भी पति-पत्नी हैं जिन्होंने एक-दूसरेको स्वाभाविक और सहज रूपसे अपनाया है और उनमें कोई कृत्रिमता नहीं—पर ऐसे सौभाग्यशाली व्यक्ति उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। बाक़ी सब ढकोसला है—सब स्वांग है।"

इसके बाद सुधीर चुप हो गया। पूरे चाँदकी चाँदनी धरतीपर फैली हुई थी और ऐसा लगता था मानो धरती धुल गई है और उसका रूप सद्यःस्नाता तरुणीके समान कमनीय हो गया है।

शीलाने मानो सोचते-सोचते ही प्रश्न किया—"तो आप चाहते क्या हैं?"

"मैं चाहता क्या हूँ?" सुधीर हँस पड़ा—"मेरे चाहनेसे क्या सारे समाजका दृष्टिकोण मेरे जैसा हो जायगा? पर मैं इतना अवश्य चाहता हूँ कि हम ढोंगके इस लिबासको उतार फेंकें। हम क्यों नहीं स्वस्थ और स्वाभाविक ढंगसे जियें!...आप व्यक्तिगत उदाहरण देनेके लिए फिर नाराज हो जायेंगी—पर हमारा आपका भाभी-देवरका रिश्ता है, इसलिए मुझे माफ़ी मिल जायगी। अगर मैं कहूँ कि आप मुझे आकर्षक और सुन्दर लगती हैं और आपसे प्रेम करनेका जी चाहता है..."

शीलाने लज्जासे सिर झुका लिया। सुधीर बोला—"मैं कहता था न कि आपके संस्कार इसे बुरा मानेंगे..."

कि इतनेमें 'कार'की आवाज़ सुनाई पड़ी। शंकरलाल कारसे उतरते हुए बोले—"भाई माफ़ करना सुधीर, मुझे थोड़ी देर हो गई। तुम लोगोंको अब तक भूखा रहना पड़ा।"

तीनों व्यक्ति खानेके कमरेकी ओर बढ़ गये।

लालसाकी लौ सुधीर जला गया।

उस रातको वह पूरी नींद सो नहीं पाई। आँखें बन्दकर, सोने का बहानाकर वह घण्टों सोचती रही। उसकी बगलमें-एक दूसरी पलंग पर उसका पति सोया था। शीलाको लगा-सुधीरकी बातमें कड़वाहट तो है, पर सच्चाई कितनी है! यह जो एक हाथके फासलेपर उसका पति सोया है-यह उससे कितने सौ मील दूर है। यह निकटता तो बेवशीकी निकटता है। उसका जीवन कितना बेवश है, कितना पंगु है! उसे अपने आपसे घृणा हो आई। क्या वह अपने पतिसे प्रेम करती है-कभी सहज स्वाभाविक अनुरागसे प्रेरित हुई है? क्या यह प्रवंचना नहीं है-ढोंग नहीं है?

पतिके खर्राटेकी आवाज़ बड़ी बीभत्स लग रही थी।

शीलाकी आँखोंमें आँसू आने लगे। काश, वह मर जाती! कितना बड़ा तूफ़ान उठा है उसके मनमें। रातभर सुधीरकी तस्वीर आँखोंके भीतर नाचती रही। वह थोड़ी भयभीत भी हुई। लगा, जैसे यह सब अच्छा नहीं है। पर मनकी गतिको कौन रोक सका है? सुधीरके पास रहनेपर वैसी ही अनुभूति होती है जैसी 'आनन्द'के समीप रहनेपर हुई थी। आनन्द और सुधीरमें क्या कोई साम्य है?...शायद नहीं। आनन्द भोला और सुन्दर था। पर सुधीर सुन्दर तो है, भोला नहीं। लगता है जीवनने उसे लाल आगमें तपाकर फेंक दिया है और इसीलिए उसकी बातोंमें दृढ़ता है, उसके स्वरमें सम्मोहन है और उसकी आँखोंमें......

क्या यह कुविचार या 'पाप' नहीं है? दूसरे पुरुषके विषयमें सोचना......

शीलाको जाने कहाँसे तर्कके शब्द भी मिल रहे थे। पाप और पुण्य तो तुम्हारे दृष्टिकोणमें है। अपने आपको छलना—दुनियाको छलना क्या पाप नहीं है?...यह सारा जीवन क्या इसी तरह स्वयंको छलनेमें ही बीत जायगा? उसे प्रेमकी अनुभूति कहाँ हुई? उसके सपने साकार कब हुए? प्रश्न...प्रश्न...प्रश्न...। वह क्या सारी ज़िन्दगी अपने आपसे प्रश्न करती जायगी? उत्तर कुछ नहीं है। लगता है किसी सुनसान कन्दरामें चिल्लाकर बोले गये शब्द प्रतिध्वनिके रूपमें वापस लौट आते हैं और प्रश्न उससे ही किये जाते हैं। शीलाके पास इनका कोई उत्तर नहीं। वह क्या करे...क्या करे? भीतर बड़ी बेचैनी महसूस हुई। करवट बदलती रही। सिरमें दर्द होने लगा था।

दूसरे दिन जब वह उठी तो जी भारी था। मन पर कोई बोझ था। लगा जैसे उसे बुख़ार आयगा। दोपहर ऐसे ही कट गया—अपराह्न भी बीता। सुधीर और पतिदेव दोनों कामके सिलसिलेमें बाहर गये थे। फिर संध्या आई। शीला आतुरतासे सुधीरकी प्रतीक्षा कर रही थी। क्यों कर रही थी—यह उसे स्वयं मालूम नहीं था।

गर्मीके दिनोंमें वह कमसे कम दो बार नहाती थी। नहाकर जब बाहर निकली तो लानमें कुर्सियाँ लग गई थीं। नौकर भाग-दौड़ रहे थे। गाड़ीसे सिर्फ़ सुधीर उतरा। पतिदेवको आज भी मीटिंगमें भाग लेना था।

शीला मन ही मन ख़ुश हुई। पतिदेवके सामने वह खुलकर सुधीरसे बातें नहीं करती। संकोच और भयका मिला-जुला भाव बना रहता है। या संस्कार ऐसे हैं कि पराये पुरुषोंसे शील निभाई जाय।

जब वे एक दूसरेके सामने आ खड़े हुए तो सुधीरने धीरेसे मानो फुसफुसाकर कहा—"भाभी, आज तो आप रूपकी रानी लग रही हैं !"

"हटिये, आपको तो हमेशा मजाक सूझता है।" कहकर शीलाने मुसकराकर उत्तर दिया। अपने रूपकी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न न हो–ऐसी शायद दुनियामें एक भी नारी नहीं होगी। यही नारीकी सहज और स्वाभाविक दुर्बलता है।

पर सुधीरने बात सच कही थी। सफ़ेद सिल्ककी साड़ीमें शीलाका रूप उजले कमलकी तरह खिल रहा था। बचपनसे ही शीलाका मन सौन्दर्य और सुरुचिकी कामना करता आया है। इसीलिए कविताएँ उसे प्रिय थीं—चाँद उसे प्यारा था–पंछी उसे अच्छे लगते थे। आनन्दको उसने चाहा था और सुधीरको.........

सुधीर सचमुच सुन्दर है। यदि वह सुन्दर और आकर्षक नहीं होता तो क्या शीला उसकी ओर इतनी तेज़ीसे खिंचती ? शायद नहीं...

सुधीर कह रहा था–"भाभी, आप तो किसी फिल्ममें 'हिरोइन' बनने लायक हैं।"

शीला थोड़ी प्रगल्भ हो गई थी। बोली—"और उसमें आप 'हीरो' बनेंगे ?"

सुधीर खिलखिलाकर हँस पड़ा। बोला—"फिल्मकी अभिनेत्रियोंको मैंने निकटसे देखा है और उनके बारेमें सुना है। वे तो काग़ज़के फूल की तरह सुन्दर दीखती हैं। उनमें कोई गंध नहीं होता–वे तो पुतलियाँ हैं जो पैसोंपर हँसती-गाती हैं। पर आप...आपमें रूप और गंध दोनों हैं !"

शीलाको लजाना पड़ा था।

लानमें लगी कुर्सियोंपर वे आ बैठे। गोधूलि बीत चुकी थी और

हल्का अँधेरा धरतीपर उतर रहा था। बिजलीकी रोशनी जलने लगी थी और रेडियोसे रवीन्द्र-संगीत बज रहा था—

"मोर संध्या तूमि सुन्दर वेशे एसेछ,
तोमाय करि गो नमस्कार
मोर अन्धकारेर अन्तरे तुमि हेसेछ,
तोमाय करि गो नमस्कार
एई नम्र-नीरव सौम्य-गम्भीर आकाशे
तोमाय करि गो नमस्कार
एई शान्त-सुधिर तन्द्रा-निविड़ बातासे
तोमाय करि गो नमस्कार..."

सुधीर चुपचाप चाय पीता रहा। शीला गीत सुन रही थी। टूटी-फूटी बँगला वह समझ लेती है। गीत उसे बड़ा अच्छा लग रहा था।

गीत जब समाप्त हो गया तो सुधीर बोला—"रवीन्द्रनाथकी कविताओंमें जो बात मुझे सबसे अच्छी लगती है—वह यह है कि वे बड़ी सरल होती हैं। छोटे-छोटे शब्दोंमें वे भावोंका समुद्र बाँध देते हैं। हमारी हिन्दीके कवि तो हल्के शब्दोंका प्रयोग करना अपमान समझते हैं।"

शीलाको अपनी प्रिय कवि महादेवीका स्मरण आया। बोली—"महादेवीजी की कविताओंमें यह गुण है।"

सुधीर बोला—"जेलमें मैंने बहुत कुछ पढ़ा। पाँच बरस तक बन्द रहा। क्या करता? महादेवीजीकी कविताएँ भी पढ़ीं। पर मुझे एक बात अखरती है कि इनमें आशावादका स्वर नहीं है। रवीन्द्रनाथकी एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे हमेशा आशावान रहे। जहाँ तक कविताओंका प्रश्न है—महादेवीकी रचनाएँ बड़ी ऊँची कोटि की हैं। पर उनमें 'मोनोटनी' यानी एकरसता है। सारी कविताओंसे लगता है जैसे एक ही ध्वनि आ रही है।"

शीलाकी आलोचनात्मक शक्ति प्रखर नहीं हो पाई थी। वह अनुभूति कर सकती थी, पर अभिव्यंजनाकी शक्ति प्रौढ़ नहीं हो पाई थी, इसलिए वह कुछ कहना चाहकर भी नहीं कह सकती।

सुधीर बोला—"मेरा तो विचार है, कालेजके सिवा कविताएँ बहुत कम पढ़ी जाती हैं। हाँ, कवि-सम्मेलनोंमें सुनी अवश्य जाती हैं। मुझे तो कवि-सम्मेलनमें बड़ा आनन्द आता है। रंग-बिरंगके कवि और फिर उनके पढ़नेका ढंग। नाटकका आनन्द आता है!"

शीला बोली—"कविता तो एकान्तमें पढ़नेकी चीज़ है।"

सुधीर हँसा। बोला—"आपको भले ही एकान्त मिलता हो—पर आजके अधिकांश लोगोंको एकान्त या अवकाश ही कहाँ है? समयके साथ ही लोगोंकी रुचियाँ बदल गई हैं। पहले जब मनोरंजनके साधन कम थे तो लोग कविता या संगीतसे मन बहलाया करते थे। पर आज?...आज तो 'फ़िल्म' ही एक मात्र मनोरंजन है। आप किसी शहरकी किसी गलीमें जाइए छोटे-छोटे लड़के भी फिल्मोंके गीत गाते नज़र आयेंगे। फिल्मोंने हमारे जीवनको बुरी तरह ग्रस लिया है। पहले देहातोंमें लोग 'रामायण' या 'आल्हा' गाते थे—अब वहाँ भी सिनेमाके गाने 'वनस्पति घी' की तरह फैल गये हैं।"

शीला मुसकराकर बोली—"आप ही जैसे लोग तो इस हालतके लिए उत्तरदायी हैं।"

सुधीरने सिगरेट सुलगाते हुए कहा—"मैं तो 'बिजनेसमैन' हूँ। लोग जैसा माल चाहते हैं, सप्लाई करता हूँ।"

"पर समाजके लिए क्या यह दृष्टिकोण ठीक है?"

"समाजके लिए बहुतसे दृष्टिकोण ठीक नहीं हैं—पर वे सभी चल रहे हैं। हमारी सारी सामाजिक पद्धति या आर्थिक ढाँचा ही ग़लत है। शिक्षा पाकर लाखों लड़के बेकार घूमते हैं—करोड़ों लोगोंको अब भी

भरपेट खाना नसीब नहीं होता—अब भी वे नरक-जैसी ज़िन्दगी बिताते हैं।..."

इस तर्कका शीलाने कोई उत्तर नहीं दिया। बोली—"अगर हम अपने स्वार्थको ही सबसे बड़ा समझें तो बात दूसरी है। पर देशको आगे बढ़ानेका काम आप-जैसे लोगोंपर ही तो निर्भर है।"

"देशको आगे बढ़ानेके लिए पाँच वर्ष जेलमें रहा हूँ।" सुधीर मुसकराकर बोला—"पर जेलसे छूटनेपर किसीने यह नहीं पूछा—सुधीर महाराज, तुमने तीन दिनोंसे खाना क्यों नहीं खाया—कपड़े क्यों नहीं बदले—सड़कोंपर क्यों घूमते हो—फुटपाथपर क्यों सोते हो?"

सुधीरकी बातोंमें सचाई थी और इसलिए कुछ कहनेकी इच्छा शीलाको नहीं हुई। वह सिर्फ़ सुनना चाहती थी। सुधीरकी बातें जाने क्यों इतनी अच्छी लगती थीं। उसका मन चाहता था कि सुधीर इसी तरह उससे बातें करता जाय और वह चुपचाप सुनती जाये।

सुधीर कह रहा था—"हम सभी समाजके पुर्जे हैं। यह बात नहीं कि मैं समाजकी भलाई-बुराई नहीं समझता। मैंने जीवनके सबसे अच्छे दिन इन्हीं बुराइयोंसे लड़नेमें लगाया है। पर आज हमारा सारा दृष्टिकोण पैसोंके मूल्यसे आँका जाता है। रुपया ही आज मनुष्यके लिए सबसे बड़ा सत्य बन गया है। कुछ पैसोंके लिए यहाँ औरतें भरे बाज़ारमें अपना सतीत्व बेचती हैं। बाक़ायदा दूकानें लगी हैं। ग्राहक आते हैं—माल देखते हैं, पसन्द करते हैं—मोल-भाव होता है और फिर...।" सुधीरका स्वर रूक्ष हो गया—"मैं नहीं मानता कि इन बाज़ारू औरतोंमें 'सतीत्वकी' कमी है, 'मातृत्वका' अभाव है या ये भावना-शून्य होती हैं। हमारे आर्थिक ढाँचेने इन्हें इस कामके लिए मजबूर किया है। पैसोंके अभावके कारण माँ-बाप अपनी लड़कीको बेंच देते हैं.....यह सारी विडम्बना मुझसे छिपी नहीं है।"

अन्तिम वाक्य शीलाके हृदयको जैसे छेद गया था। बात कितनी सच थी···यदि उसके पिताके पास भी पैसे होते तो क्या उसका विवाह··· एक घुटन-सी महसूस हुई। सच इतना कड़वा होता है!

सुधीरने दूसरी सिगरेट सुलगा ली और स्वरको धीमा किया—"ग़रीबी और भूखसे तंग आकर मैंने वही रास्ता अपनाया जो आजके युगकी सफल राह मानी जाती है। मैंने अपने आदर्शोंको आराम करने दिया और फिर मैंने पाया कि मेरे पास भी खानेको बहुत है—पहननेको क़ीमती सूट हैं—सफ़रके लिए मोटर है—रहनेके लिए ख़ूबसूरत फ़्लैट है। आप इसे पतन कह सकती हैं, पर मुझे इसके लिए लज्जा नहीं है। मैं क्यों लज्जित होऊँ जब ये सारे ऊँचे तबकेके लोग अपने किये पर गर्व करते हैं। और फिर मैंने इन सभ्य कहे जाने वाले लोगोंके 'सद्गुणों' को प्रश्रय नहीं दिया—शराब नहीं पी, लड़कियोंको नहीं ख़रीदा—सफ़ेद झूठ नहीं बोलता और अच्छे बननेका ढोंग नहीं रचता।"

शीलाको लगा सुधीर जैसे बहुत सताया गया व्यक्ति है। सुधीरके प्रति अपनत्व अनायास उमड़ रहा था। अपने और सुधीरमें वह साम्य पा रही थी। बात बदलनेके लिए वह बोली—"आप एकाध बिस्कुट भी तो खाइए—अधिक बोलनेसे थक गये होंगे?"

सुधीरके मुखका तनाव हँसीमें परिणत हो गया। बात बदलते हुए बोला—"माफ़ कीजियेगा। आप मेरी बातोंसे ऊब गई होंगी। पर आपने बात ही ऐसी उठाई कि मुझे यह सब बकना पड़ा!"

हल्की हवा बह रही थी। शीलाके सिरका आँचल गिर गया था और उसके कपोलपर एकाध लटें बिखर गई थीं। चाँदनीके प्रकाशमें शीलाका चेहरा बड़ा सम्मोहक लग रहा था। सुधीर चुपचाप बीच-बीचमें शीलाको एकटक देखने लगता था।

शीला इस बातसे अवगत थी कि सुधीर उसकी ओर मुग्ध दृष्टिसे देख रहा है---इसकी अनुभूति बड़ी सुखद थी। वह एक तृप्तिका अनुभव कर रही थी।

कुछ क्षणों तक चुप रहकर सुधीर बोला—"आप मुझे बहुत अच्छी लगती हैं। आपको देखता हूँ तो पता नहीं क्यों बड़ा अपनापन महसूस करता हूँ।"

शीलाकी नज़रें झुकी थीं।

सुधीर कहता गया—"मैं जानता हूँ कि मुझे यह सब कहनेका अधिकार नहीं और यह मेरा दुस्साहस है। पर मुझमें यही एक बड़ा दुर्गुण है कि अपने मनोभावोंको नहीं छिपा सकता।"

शीलाके हृदयमें जैसे एक स्निग्ध भावना चक्कर मार रही थी। हर्षसे उसकी आँखें मुँदी जा रही थीं। वह जैसे किसी स्वप्न-लोकमें घूम रही थी। मानो यह सारा दृश्य कोई स्वप्न हो और वह उसकी रानी हो। अस्फुस्ट स्वरमें उसने कहा—"आपको कहनेका अधिकार क्यों नहीं है..."

उस रात चाँदके आस-पास न जाने कहाँसे बादलोंके टुकड़े एकत्र हो गये थे। चाँद बादलोंसे आँखमिचौनी खेल रहा था। पता नहीं, यह वातावरणका प्रभाव था या सुधीरके सम्मोहक वार्तालापसे उत्पन्न परिस्थितिका असर था, शीला सम्मोहित-सी सुधीरको देखने लगी थी। दोनों एक दूसरेको देखते रहे। चाँदकी बादलोंके साथ आँख-मिचौनीके कारण चाँदनी धुँधली थी—चेहरे स्पष्ट नहीं दीख पड़ते थे। सुधीर शीलाके पास आ खड़ा हुआ। शीलाकी आँखें जैसे मुँद रही थीं। सुधीर झुका। झुककर उसने शीलाकी लटको उठाकर अपने ओठोंसे चूम लिया।

नागिन जिस तरह चोट खानेसे तड़प उठती है—शीला भी तड़पकर

परे हट गई। उसकी साँसें ज़ोरोंसे चल रही थीं। उसका कंठ रुँधा था। वह भर्राये गलेसे बोली—"आपने यह क्या किया सुधीर बाबू ?"

सुधीर वापस जाकर अपनी कुर्सीपर बैठ गया। बोला—"क्षमा कीजियेगा। मैं कभी-कभी भावावेशमें आकर बचपना कर बैठता हूँ।"

शीलाको बड़ी बेचैनी महसूस हो रही थी। वह उठकर अपने कमरे के भीतर चली गई। सुधीर चुपचाप चाँदकी ओर देखने लगा। वह भी उद्विग्न हो उठा था। सारे शरीरका रक्त जैसे खौलता हुआ प्रतीत होता था। यह उसने क्या किया ?...शीला उसे क्या समझती होगी ? वह क्या अपने ऊपर इतना भी नियन्त्रण नहीं रख सकता ! उसका कंठ सूख रहा था। साथ ही बोलनेकी इच्छा भी नहीं हो रही थी।

वह बादलोंके साथ लुका-छिपी खेल रहे चाँदको देखता रहा। क्या उसका भाग्य भी उससे इसी प्रकार नहीं खेल रहा ? कहाँ-से-कहाँ वह पहुँच गया ? नियतिने उसे गेंदकी तरह उछालकर कहाँ ला पटका ?

पोर्टिकोमें गाड़ी रुकनेकी आवाज़ हुई। शंकरलालजी आ गये थे।

उस रात सुधीरको नींद नहीं आई।

सारा जीवन चलचित्रकी नाईं घूम रहा था। गेस्ट रूमकी बत्ती उसने बुझा दी थी। खिड़कियोंसे चाँदनीका धुँधला प्रकाश आ रहा था। सुधीरकी आँखोंमें नींद नहीं थी।

सबसे पहले बचपनकी स्मृति उभरी। साधारण-सा ग्राम। पिताका चेहरा याद नहीं आता। सिर्फ़ एक धुँधली याद है। एक सहृदय उदार और धार्मिक पुरुषकी गोदमें वह बैठा है। प्रभात अभी खुला नहीं है। पिता सुरीले कंठसे कोई 'प्रभाती' गा रहे हैं—

प्रभुजी ! तुम चन्दन, हम पानी
जाकी अंग अंग बास समानी

प्रभुजी, तुम घन बन हम मोरा
जैसे चितवत चन्द्र चकोरा......

एक छोटा-सा बालक प्रसन्न-मुद्रामें चुपचाप बैठा है। भजन उसे बड़ा अच्छा लग रहा है। अर्थ वह समझ नहीं पाता, पर टेककी ध्वनि उसे अच्छी लग रही है। पिताकी सिर्फ़ यही एक स्मृति है। एक दिन उसने सुना—वे मर गये। पाँच सालका बच्चा 'मरने'का गूढ़ार्थ नहीं समझ सका। उसके पालन-पोषणका भार बड़ी भाभीपर पड़ा। माँ तो जन्म देकर ही इस धरतीसे चली गई थी। बड़े भैय्या शहरमें डिस्ट्रिक्ट बोर्डमें क्लर्क थे। वे वहाँ अकेले रहते थे और हफ़्तेमें एक रोज़ चले आते थे। यों शहरसे उसका गाँव पच्चीस मीलके फासले पर था। गाँवकी पाठशालामें उसे भर्ती करा दिया गया। गाँवमें मिडिल तक एक स्कूल था। बचपनकी याद कड़वी है। उसे अधिक खेलने नहीं दिया जाता था। पाठशालासे लौटनेपर बड़ी भाभी अपने डेढ़ सालके मुन्नेको आगे कर कहतीं—"यहीं बैठकर बच्चेको खिला! काम नहीं करेगा तो खाना भी नहीं मिलेगा।"

भाभीके चार-पाँच बच्चे थे। पर दो बच्चे बचपनमें ही मर गये। वह अपढ़ थीं और जादू-टोना या टोटकामें विश्वास करती थीं। उनका मिजाज बड़ा गर्म था और पड़ोसियोंसे उनकी हमेशा लड़ाई-झगड़े हुआ करते थे। बात या बेबात वे उसके कान उमेठ देतीं या धौल जमा बैठतीं। कभी-कभी ग़ुस्सेमें कहतीं—"बड़ा कुलच्छन लड़का है। जनमते ही माँको खा गया। पाँच सालमें 'बाप'को खा गया—मेरे दो-दो बच्चे लील गया। जाने कहाँका राक्षस घरमें पैदा हुआ है!" भरपेट खाना भी मुश्किलसे उसे दिया जाता। रातकी बासी रोटी या पनहा भात नमकके साथ खाकर वह स्कूल जाता। खाना तो दो बजेके पहले कभी भाभी पकाती नहीं थीं। अपने लड़कोंके लिए वे हलुआ, निमकी-कचौड़ी या

सकरपाला बनातीं। वह जब आँखें फाड़कर टुकुर-टुकुर देखने लगता तो झल्लाकर एकाध टुकड़ा उसकी ओर फेंक देतीं और कहतीं—"दैय्यारे ! कैसा दीदा है लड़केका ! आँखें फोड़ दूँगी जो लड़केको नज़र लगाया ! जा भाग यहाँसे !"

ऐसी घड़ियोंमें गांवके पोखरके किनारे पीपलके पेड़के नीचे वह चुपचाप बैठ जाता और बिसूर-बिसूर कर रोता। लोग उसे 'टूअर' कहते—पर सहानुभूति दिखलाने वाले इने-गिने ही थे। सबकी यह धारणा थी कि वह 'कुलच्छन' है और उसने अपने मां-बापको निगल लिया है। पाठशालाके पण्डितजी एक ऐसे व्यक्ति थे जो उससे स्नेह करते थे, चुपकारते थे और उसकी बुद्धिकी प्रशंसा करते थे। सभी लड़कोंसे पढ़नेमें वह तेज़ था—यद्यपि घरपर उसे पढ़नेका अवसर नहीं मिलता था। लोअरसे अपर और फिर अपर प्राइमरीसे मिडिल तक वह हमेशा फ़र्स्ट होकर पास होता गया। जब उसने मिडिलकी परीक्षा पास कर ली, उस समय उसकी उम्र बारह सालकी थी। भाभीने ताना दिया—"अब तो तू मिडिल पास कर गया, अब कुछ काम-धाम कर।" बारह सालका बालक काम-धाम क्या करे? वह चुपचाप भाभीका मुँह देखता रहा। भाई साहब से जब उसने शहर जाकर आगे पढ़नेकी इच्छा व्यक्त की तो भाई साहब बोले—"आगे पढ़ानेका खर्च उठाना मेरे लिए संभव नहीं है।"

भाभीने तिनककर कहा—"कौन तुम्हारा सगा भाई है—चचेरा-ममेरा भाईका क्या ठिकाना ! इतना जो कर दिया, वही क्या कम है ?" उस समय तक यह बात उसकी समझमें नहीं आई थी कि अपने और चचेरेमें क्या भेद होता है। बचपनसे ही वह भाई साहबको 'बड़े भैय्या' के रूपमें देखता आया था। भाई साहब यों आदमी अच्छे थे। भाभीका व्यवहार ही कष्टप्रद था और पता नहीं क्यों उसके फ़र्स्ट होनेके समाचार

सुनकर भी वे कभी उसे शाबासी नहीं देती थीं। भाई साहबको भाभीकी बात अस्वीकार करनेका साहस नहीं था।

सवाल हुआ—अब क्या हो? भाभीने राय दी—"खेत-बघार देखे। जानवरोंको दाना-पानी दे—छोटे भाई-बहनोंको पढ़ाये—कामकी क्या कमी है?"

भाई साहब तीन रोज़की छुट्टीमें आये थे। बिना कुछ फैसला किये अपने कामपर शहर चले गये। उसे उम्मीद थी कि शहर उसको अपने साथ ले जायँगे। भाई साहबके जानेके बाद वह उदास पोखरके पीपल-तले बैठा रहता। अपनी दशापर बड़ी रुलाई आती। दुनियामें उसका कोई तो नहीं है। वह तो 'चचेरा' भाई है—अपना थोड़े है। जब वह खानेके लिए भाभीके निकट जाता तो भाभीका पारा गरम हो जाता। चुनी हुई गालियाँ उसपर पड़तीं। फटकारके साथ वे कहतीं—"आ गया लाटका बेटा ठूँसने। जैसे बाप 'खुर्थी' तो रख गया था इसके लिए! काम न धाम, राजाजी सलाम! सबेरेसे कहाँ मरने गया था। मर भी जाता तो रोज़की 'हाय हाय' से छुट्टी मिलती!"

आँखोंमें आँसू भरकर वह नीचेकी ओर देखने लगता। पैरोंपर गर्म आँसू टप-टप चूते। भाभी बासी भात या रोटीकी फुरही थाली उसकी ओर ठसकके ठेल देतीं। उसे लगता जैसे वह ज़हर खा रहा है। कौर उससे निगला नहीं जाता। पर डरके मारे खाना ही पड़ता। स्थिति असह्य होती गई। तब उसने एक संकल्प किया।

संकल्प बारह सालके बच्चेके लिए भयावह था। आधी रातको जब सारा गाँव सो रहा था, वह उठा। उठकर उसने स्टेशनका रास्ता पकड़ा। स्टेशन ग्यारह मील दूर था। पासमें एक छदाम नहीं था। मोटी-सी एक धोती और आधी बाँहकी कमीज वह पहने था। रात काली थी

और रास्ता सुनसान था। पर जाने किस आवेशमें वह बढ़ता गया—भागता-सा गया।

किस प्रकार वह भूखा-प्यासा बिना टिकट रेलपर चढ़ गया—यह कहानी भी आश्चर्यजनक है। लगता था जैसे कोई हिप्नोटिक शक्ति उससे यह सारा काम करवा रही है। भर-दिन और भर-रात वह भूखा ट्रेनकी बेंचके नीचे छुपा लेटा रहा। दूसरे दिन वह हावड़ामें था।

बारह-साढ़े बारह सालका बालक कलकत्ता महानगरीमें अकेला था। बहुत भूख मालूम हो रही थी पर खाये क्या? कोई सेठ भिखारियोंको भोजन करा रहा था और सड़कपर भिखारियोंकी कतार बैठी थी। चुप-चाप वह जाकर कतारमें बैठ गया। जो मिला वह खाता गया—ऐसा लगता था कि वह दुनियाके सारे खाद्य-पदार्थ खा जायगा।

बादमें मालूम हुआ—सेठके बापका श्राद्ध था। श्राद्धका बचा हुआ खाना वह भिखारियोंको खिलाकर डबल 'पुण्य' कमा रहा था!

खा-पीकर जब उसे कुछ होश आया तो उसने सोचा—अब क्या करना चाहिए? नौकरी? उसे कौन नौकरी देगा? वह कौन-सा काम कर सकेगा? कुली बने—ईंट ढोये—या?......

मैदानकी एक खाली बेंचपर बैठकर वह सोचने लगा। दिमाग़ शून्य-सा लग रहा था। कुछ सोचा नहीं जाता था। तीन-चार घण्टे वह वहाँ बैठा रह गया। वह कहाँ रहेगा, क्या खायगा? वह गाँवसे क्यों भाग आया? तो वापस गाँव लौट जाये?......नहीं। इस बातपर वह दृढ़ था। अब वह गाँव नहीं लौटेगा।

पाँच बज गये थे। आने-जानेवाले लोगोंकी भीड़ बढ़ चली थी। मोटरें तेज़ीसे भाग-दौड़ रही थीं। वह उठा और एक ओर बढ़ता गया। वह सभी रास्तोंसे अपरिचित था। लाखोंकी भीड़में एक भी चेहरा पह-चाना हुआ नहीं था। यहाँकी धरती नई थी, यहाँका आसमान नया

था। बड़े-बड़े आलीशान मकान थे—वैभव और विलासकी प्रतीक बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ थीं, दुकानें थीं। वहाँ क्या नहीं था? भौंचक और सहमा-सहमा बालक आगे बढ़ता गया।

जूतोंकी कोई दूकान थी। वहाँ खड़ा दूकानको घूरता रहा। दूकान-दारने डाटकर पूछा—"यहाँ क्यों खड़ा है?"

उसने जवाब दिया—"नौकरी चाहता हूँ।"

"भाग जा...चोर-लफंगा कहींका।" दाढ़ीवाले बड़े मियाँने उसे भगा दिया।

जाने कितनी दूकानोंमें गया। सभीने उसे खाजवाले कुत्तेकी तरह दुर-दुरा दिया। वह समाजकी खाज जो था। संध्या हो गई। बिजलीकी बत्तियां जल उठीं। सारा नगर जैसे जादूनगरीमें परिवर्तित हो गया। चलते-चलते उसके पैर दुखने लगे। भूखे पेटमें जाने क्या-क्या ठूँस लेनेसे जी मचलाने लगा।

रात और भी बढ़ने लगी। वह चलता गया। जहाँ रुकता, लोग उसे संदिग्ध नज़रसे देखते। उसकी कमीज़ और धोती अत्यन्त मैली हो गई थी। दो रोज़से नहीं नहानेके कारण शायद उसकी सूरत चोर-उचक्के जैसी हो गई थी। पता नहीं वह कितनी देर तक चलता रहा। रात बढ़नेके साथ लोगोंका आवागमन भी कम होता गया। गाँवके उस छोटे बालकका हृदय धड़क रहा था। अब क्या होगा? अब वह क्या करे? ...कुछ भिखारी एक सार्वजनिक शौचालयके पास अपने अपने कंथे बिछाकर सोनेकी तैयारी कर रहे थे। वह भी वहीं रुक गया। रात बहुत हो गई थी। शायद ग्यारह या बारह बज गये थे। भिखारियोंसे अलग हटकर फुटपाथके एक कोनेमें वह भी दुबककर बैठ गया। सार्व-जनिक शौचालयसे बदबूदार हवा आ रही थी। शायद सार्वजनिक होनेके

कारण शौचालयका उपयोग बेतकल्लुफ़ीसे किया गया था। और भंगी भी इसे सार्वजनिक समझ मानव-मलको फलने-फूलनेके लिए छोड़ गया था। वहाँ की हवामें दम घुटता था। पर यही जगह शून्य और निरापद लगती थी। धीरे-धीरे उसकी आँखें झपने लगीं और वह सो गया।

सबेरे किसी राहगीरने उसे बूटकी ठोकर मारकर जगा दिया—"नवाबके बच्चे! तेरे बापकी यह फुटपाथ है जो इस तरह पसरकर सोया है। लोगोंके आने-जानेका रास्ता भी रोक रखा है।" आँखें मलता हुआ वह उठा। राहगीर उसे देखनेके लिए रुका नहीं था। वह चुपचाप बैठा सोचता रहा कि वह कहाँ आ गया है और अब क्या करना है? उसे रुलाई आ रही थी—गाँवका वह पोखरा याद आ रहा था—पीपलका वह बूढ़ा पेड़ याद आ रहा था जिसके नीचे बैठकर वह आसमान-ज़मीन की बातें सोचा करता था।

कुछ देर बाद और लोगोंकी तरह उसने भी सार्वजनिक शौचालयसे लाभ उठाया। सार्वजनिक नलपर हाथ-मुँह धोया और फिर आगे बढ़ गया। सवाल फिर आया—अब क्या किया जाय? प्रायः एक मील चलने के बाद वह एक टीनकी सेडमें बने 'सुद्ध होटल' के सामने रुक गया। एक मोटा गुलथुल आदमी लोहेकी एक कुर्सीपर बैठा 'भोजपुरी' में हँस-हँसकर एक आदमीसे बातें कर रहा था "ई होटल तो अपने समझल जाव। अपने ही लोगनके ख़ातिर इ होटल बा।" जब वह आदमी चला गया तो वह साहसकर आगे बढ़ा। भोजपुरीमें बोला—"हमराके कोई काम मीली?" वह मोटा आदमी चौंककर उसे देखने लगा। घूरते हुए और उसे जाँचते हुए उसने अनेक प्रश्न किये। किस जिलेका रहनेवाला है—यह भी पूछा। उसने जानबूझकर गाँवका नाम ग़लत बतलाया। डर था कि वह गाँवसे पूछताछ न शुरू कर दे। पता नहीं क्या सोचकर उस आदमीने काम देना स्वीकार कर लिया। काम था—ग्राहकोंको

'चाय' या 'आलूबड़े' देना, प्याले या और दूसरे बर्तन साफ़ करना। सुबहसे आधीरात तक 'सुद्ध होटेल' खुला रहता। कागज़की तख़्ती साइन-बोर्डके रूपमें लटका दी गई थी। अधिकतर ग्राहक निम्न अथवा निम्न मध्य-वर्गके थे। दफ्तरोंके चपरासी, प्रेसके कम्पोजिटर, मज़दूर, ड्राइवर या ऐसे ही लोग 'सुद्ध होटेल' में आते। बंगाली बालकोंकी संख्या भी कम नहीं रहती। वे "भैय्याजी" के होटेलमें बने आलू-बड़ेको खूब चावसे खाते। होटलके मालिकको लोग "भैय्याजी" के नामसे पुकारते थे—क्योंकि वह स्वयं ग्राहकोंको "भैयाजी" के नामसे सम्बोधन करता था। वह स्वयं आलू-बड़े बनाता था। चाय बनाने और ग्राहकोंको देनेका काम एक दुबले-पतले जवानका था। उसके दाँत बड़े गन्दे थे और वह बड़ी फुर्तीसे ग्राहकोंको चाय देता था। भैय्याजीकी काली बेढंगी तोंद बाहर निकली रहती। वह चीखकर ग्राहकोंका आर्डर सुनाता —"चार नम्बर टेबुलपरके भैयाजीके लिए दो आलू बड़े और एक चाय —तीन नम्बर भैय्याजीके लिए सिर्फ़ एक आलूबड़ा!"

'आलू-बड़ा' और 'भैय्याजी' 'सुद्ध होटेल' के मानो पर्याय थे। सुबहसे रात तक लोग आते और मिर्चोंसे जायकेदार बने आलू-बड़े खाते। सुबहसे रात तक वह हमेशा किसी न किसी काममें लगा रहता। होटलकी आमदनी अच्छी थी। आदमी दो ही थे और शायद तीसरेकी ज़रूरत महसूस की जा रही थी। भैय्याजीने कहा—"खाना-पीना और सात रुपये महीना मिलेगा। चोरी-वोरी नहीं करनी होगी—ईमानदारीसे रहेगा तो सालमें आठ आने तरक्की मिलेगी।"

अंधा चाहे दो आँखें! पेट भरने और रहनेकी जगह मिल गई थी। दूकान बन्दकर ग्राहकके लिए बनी काठकी बेञ्चोंको सटाकर सोना पड़ता था। भैय्याजीके पास एक मामूली खटिया थी। वे अकेले थे। उनका घर, घरवाली और बच्चे वगैरह सभी गाँवमें थे। जातके तेली थे। सोनेमें

उनकी नाक ज़ोरोंसे बजती थी और तोंद ऊपर-नीचे साँसोंकी गतिमें उठती-बैठती रहती थी।

पन्द्रह-सोलह दिन ऐसे ही बीत गये। उसका जी ऊब गया और वह उदास रहने लगा। खानेके नामपर रोज़ बचे हुए आलू-बड़े और मोटी सूखी रोटियाँ मिलती थीं। कहाँ तक दोनों शाम आलू-बड़े खाता! पेटमें लहक उठने लगी थी। सारा मिर्चोंका खेल था।

एक दिन दोपहरमें भैय्याजी बाहर सामान लाने गये थे। वे थोकभाव से आलू, मिर्च, बेसन इत्यादि लाया करते थे।

खादीकी टोपी पहने एक सज्जन चाय पीने आये। बीच-बीचमें वे आते रहते थे। भैय्याजी उन्हें 'अख़बारी भैय्याजी'के नामसे पुकारते थे। उनकी उम्र तीस-पैंतीसके आसपास होगी। चाय देकर वह खड़ा हो गया। अख़बारी बाबू ध्यानपूर्वक हिन्दीका कोई अख़बार पढ़ रहे थे। वह उत्सुकतावश खड़ा होकर पहले पृष्ठको मन ही मन पढ़ने लगा। बाबू साहबने जब पन्ना उलटा तो उसे अख़बार पढ़ते पाया। उनमें कुछ उत्सुकता जगी। पूछा—"पढ़ना लिखना जानते हो?"

"जी साहब, मिडिल पास हूँ।" उसने संकोचसे उत्तर दिया। भैय्याजीने सिखा दिया था कि हर ग्राहकको 'साहब' कहा कर चाहे वह भंगी ही क्यों न हो!

"यहाँ तो कुछ ही दिनोंसे तुम्हें देखता हूँ। पहले कहाँ थे?"

"पहले घरपर था?"

"यहाँ कितना मिलता है?"

"सात रुपये......"

"सिर्फ़ सात रुपये?" चौंककर जैसे उन्होंने कहा—"अख़बारके दफ्तरमें काम करेगा? पच्चीस रुपये तनख्वाह मिलेगी।"

"पच्चीस रुपये।" वह भौंचक रह गया था। डरते-डरते उसने पूछा—"काम क्या करना होगा साहब ?"

"आफ़िस बाय—याने आफ़िसमें काग़ज़ इधर-उधर ले जाना होगा—बाहर आफ़िसकी रखवाली करनी होगी।"

"साहब, रहूँगा कहाँ ?"

"आफ़िसमें ही। और कहाँ रहेगा ? पन्द्रह रुपयेमें तुम्हारा खाना-पीना हो जायगा। दस रुपये बच जायेंगे। अगर काम करनेका मन हो तो कार्नवालिस स्ट्रीटके मोड़पर 'प्यारा भारत' दफ़्तरमें आना। यह अख़बार रख लो। 'प्यारा भारतका' संपादक मैं हूँ।" यह कहकर वे पैसे चुकाकर चले गये।

देर तक वह सोचता रहा—क्या करना चाहिए ? भैय्याजीके 'सुद्ध होटल'से मन बहुत ऊब गया था। वह यहाँसे भागना चाहता था। इस होटलमें भर दिन 'आलू-बड़ा'की चर्चा रहती थी। आलू बड़ा...आलू बड़ा ...आलू बड़ा। उसे लगा जैसे वह ख़ुद एक आलूबड़ा है जिसे भैय्याजी खा जायेंगे। और फिर जूठे बर्तन धोते समय मन जाने कैसा करता था।

रातको जब 'सुद्ध होटेल' बन्दकर सोनेकी तैयारियाँ होने लगीं तो उसने भैय्याजीसे कहा—"कलसे मैं दूसरी जगह काम करूँगा।"

"क्यों !" भैय्याजीने चीख़कर पूछा। फिर उसे मोटी-मोटी गालियाँ दीं और तीन रुपये आठ आने उसकी ओर फेंकते कहा—"चूँटीके पर उग आये हैं !"

पैसे उठाकर चुपचाप उसने रख लिये। फिर उन्होंने कुछ नहीं कहा। सिर्फ़ इतना पूछा—"अभी जायगा ?"

"जी नहीं, कल सुबह जाऊँगा।"

"तो अभी सो जा—देशका आदमी है। अपना अच्छा-बुरा सोच ले।" यह कहकर वे तुरंत सो गये और उनकी नाक बजने लगी।

दूसरे दिन सबेरे वह 'अख़बारी भैय्याजी'के पास पहुँचा। उन्हें ढूँढ़ निकालनेमें थोड़ी दिक्क़त ज़रूर हुई। भाग्यवश वे मिल गये। उसे देख कर बोले—"तो तुम आ गये ?"

वह चुप खड़ा था। आदमी अच्छे थे। उन्होंने स्वयं उठकर रहनेकी जगह बता दी। बैठनेके लिए स्टूल रखवा दिया और कहा—'आजसे ही तुम्हारी नौकरी शुरू होती है।'

'प्यारा भारत' चार पन्नेका निकलने वाला एक दैनिक था—मूल्य दो पैसा। छोटा-सा प्रेस था पर काम रात-दिन होता था। अख़बारके मालिक कोई सेठ साहब थे। और धन्धोंकी तरह उन्होंने यह भी धंधा खोल रखा था। पर सेठजी राष्ट्रीय विचार रखनेवाले आदमी थे। 'अख़बारी भैय्याजी'का नाम था दीपकजी। पत्रमें उनका नाम भी छपता था। पर मोटे अक्षरोंमें प्रबन्ध संपादकका नाम दिया जाता था—सेठ हजारीमल चौरसिया। पत्रमें मीलोंके विज्ञापन खूब छपते थे। सेठ हजारीमल घीका थोक व्यापार भी करते थे। उनके पास एक पुरानी-सी मोटर भी थी और वे खादीकी टोपी पहना करते थे।

दीपकजी बड़े अच्छे स्वभावके व्यक्ति थे। घर-द्वार कहाँ था, यह कभी पता नहीं चला। अविवाहित थे, होटलमें खाते थे और प्रेसके ही एक कमरेमें रहते थे। कवि थे और रातको कविताएँ भी लिखते थे। शुद्ध खादी पहनते थे और गाँधीजीकी तस्वीर उनके कमरेमें टँगी थी।

'प्यारा भारत'का वातावरण 'सुद्ध होटेल'से बहुत अच्छा था। यहाँ ९—१० घण्टेकी ड्यूटी करनी पड़ती थी। वह दिनकी पारीमें सुबह आठ बजेसे संध्या सात बजे तक ड्यूटी करता था। उसके बाद दूसरेकी पारी थी। काम भी उतना मुश्किलका नहीं था। सम्पादकीय विभागसे 'मैटर' कम्पोजिंग-विभागको देना पड़ता और कम्पोजिंग-विभाग द्वारा दिये गये प्रूफ़ सम्पादकीय विभागमें पहुँचाना पड़ता। दीपकजी उसके कामसे बहुत

ख़ुश थे—कभी फटकारते नहीं थे और कभी-कभी जल्दी छुट्टी दे देते थे। बारह रुपये खानेमें खर्च होते—तीन साबुन वग़ैरह में। बाक़ी जो पैसे बचते उनसे वह कपड़े इत्यादि ख़रीदता।

एक दिन दीपकजीने कहा—"सुधीर! तू आगे पढ़ता क्यों नहीं? तू तो काफ़ी होशियार है। मैट्रिकका इम्तहान क्यों नहीं देता?"

उसने उत्तर दिया—"बिना स्कूलमें गये..."

"हाँ, बिना स्कूलमें गये तुम प्राइवेट तौरपर पढ़कर परीक्षा दे सकते हो। मैं तुम्हारी मदद कर दूँगा। मैं बी० ए० पास हूँ।"

बात उसे भा गई। तीन महीनेकी नौकरीमें खा-पीकर उसने इक्कीस रुपये बचाये थे। कलकत्ता विश्वविद्यालयका मैट्रिक पाठ्यक्रम वह ख़रीद ले आया। दीपकजीने अँग्रेज़ी पढ़नेमें मदद दी। बीच-बीचमें वह शर्मा-जीसे भी मदद लेता। शर्माजी प्रेसके मैनेजर, एकाउटेंट और क्लर्क तीनों थे। रोज़ रातको आठसे दस बजे तक और सुबह चारसे छः बजे तक वह पढ़ता। मनमें धुन समा गई थी कि वह मैट्रिक पास कर लेगा। इस साधनामें मन लगता था। लगता था जैसे वह अपने लक्ष्यको पा गया है। दो साल तक यह क्रम चलता रहा। बीच-बीचमें निराशा और बाधाएँ भी आईं पर उसने अपना संकल्प नहीं छोड़ा था।

तीसरे साल वह परीक्षामें बैठा और दूसरी श्रेणीमें मैट्रिककी परीक्षा पास कर ली। उसकी ख़ुशीका ठिकाना नहीं था। सारे दफ्तरमें उसने 'लड्डू' बाँटे। सभीने उसकी सराहना की।

दीपकजीकी कृपासे अख़बारमें उसे प्रूफ-रीडरकी जगह मिल गई थी। सोलह-सत्रह सालका लड़का प्रूफ़-रीडर बन गया। वेतन भी ४० रुपये मिलने लगे। दीपकजी ने हौसला बढ़ाया—"और भी आगे पढ़ो। मैंने भी इसी प्रकार बी० ए० पास किया है।"

तब तक हिटलरने डैंजीगपर धावा बोलकर दूसरे महायुद्धका

श्रीगणेश कर दिया था। महायुद्धकी अग्नि सारे विश्वमें फैल गई थी और युद्धके दुष्परिणाम प्रकट होने लगे थे। अन्न मँहगा हो रहा था। वस्त्र दुष्प्राप्य हो गये थे। सारे देशमें 'कालाबाज़ार'के कीटाणु बढ़ रहे थे।

'प्यारा भारत'की हालत भी ठीक नहीं थी। सेठ हजारीमल चौरसियाको घीके धन्धेमें बहुत लाभ हो रहा था और फौज़ियोंके लिए सामान पहुँचानेका ठीका वे अपने भाई-भतीजेके नामसे लेते थे। स्वयं गाँधीभक्त थे और 'प्यारा भारत' जनताकी सेवाके लिए ही उन्होंने निकाला था। कभी-कभी दीपकजीसे उनकी झड़प हो जाती थी। वे कहते थे—"लड़ाईके बारेमें कोई टिप्पणी मत लिखिये—सरकार प्रेस जप्त कर लेगी।"

दीपकजी कहते—"दैनिक पत्रमें यदि ये टिप्पणियाँ नहीं आयेंगी तो कहाँ आयेंगी। सारा अख़बार तो युद्धके समाचारसे भरा रहता है।"

संचालकजी धमकी देते—"तब मज़बूर होकर हमें अख़बार बन्द कर देना पड़ेगा—अख़बार आजकल घाटेमें जा रहा है।"

दीपकजीका उत्तर था—"घाटा तो नहीं है। हाँ, पहले जैसा नफ़ा अख़बारमें नहीं हो रहा है! पर दूसरे धन्धोंसे तो काफ़ी पैसा आ रहा है!"

संचालकजी ऐसी बातोंका उत्तर देना आवश्यक नहीं समझते थे।

अख़बार चले या बन्द हो—इसी ऊहापोहमें दूसरा साल भी निकल गया। अख़बार चलता रहा। लड़ाईका यह चौथा साल था और हालत दिन-ब-दिन नाज़ुक होती गई। इण्टरका कोर्स वह पढ़ चुका था और परीक्षाकी तैयारियोंमें लगा था कि सन् ४२ का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन शुरू हो गया।

गाँधीजीका 'भारत छोड़ो' आन्दोलन आगकी तरह सारे देशमें फैल गया। दीपकजीको पुलिस 'भारत माता' में आपत्तिजनक अग्रलेख लिखनेके कारण गिरफ्तार कर ले गई। अख़बार बन्द हो गया।

आन्दोलन सारे देशमें ज़ोरोंसे फैला हुआ था। उसके अपने प्रान्त बिहारमें तो इसने भयानक रूप ग्रहण कर लिया था। बिहारके छात्र और नेता छद्मवेषमें कलकत्ता भाग आये थे। वह भी इस आन्दोलनमें कूदा। 'भारतमाता' के शर्माजी ऐसी क्रान्तिमें खुलकर हिस्सा ले रहे थे। वह उनका सहयोगी बन बैठा। शर्माजीका परिचय बड़े-बड़े नेताओंसे था। उसे काम दिया गया–एक नेतासे दूसरे नेता तक संवाद पहुँचानेका ख़ुफ़िया काम। ये सभी नेता जाने कहाँ-कहाँ छिपे हुए थे। आन्दोलनके कामके सिलसिलेमें शर्माजीने पटना भेजा। कई ज़रूरी कागज़ात, आन्दोलनको गतिशील बनानेके लिए नेताके मुद्रित आदेशकी प्रतियाँ इत्यादि लेकर वह रातकी गाड़ीसे रवाना हुआ।

पता नहीं, कैसे सी० आई० डी० को उसकी कार्रवाईके बारेमें पता चल गया। वह पटना जंकशनपर थर्ड क्लासके डिब्बेसे उतरने भी न पाया था कि पुलिसके एक दलने उसे घेर लिया। तलाशी हुई। सारे कागज़ात बरामद हुए। और फिर हवालात...फुलवारी कैंप जेल...पाँच वर्षकी सख़्त सज़ा।

जेल-जीवनके अनुभव भी बड़े विचित्र थे।

कैंप-जेल फुलवारी-शरीफ़ स्टेशनके पास ही था। ऊँची दीवारोंसे परिवेष्ठित यह स्थान यंत्रणा-केन्द्र था। पहले कुछ दिन बुरी तरह कटे। फिर आदत पड़ गई और उसने भी और लोगोंकी तरह आनन्द लेना शुरू कर दिया। वह राजनीतिक क़ैदी था और इसलिए उसे कुछ सहूलियतें प्राप्त थीं। पुस्तकें वह पढ़ सकता था–कुछ अख़बार भी देखनेको मिल जाते थे। पर पुस्तकें-अख़बारसे अधिक मनोरंजन अपने साथियोंसे प्राप्त होता था।

उनमें कई तो जेलको अपना 'घर' समझते थे। जेलमें उन्होंने आठ-आठ दस-दस साल काटे थे और ऐसा लगता था जैसे वह बड़े मजेमें हैं—उन्हें किसी बातकी चिन्ता नहीं, किसी बातका ग़म नहीं। समय बितानेका उनका ढंग भी निराला था। कोई भर-दिन पुस्तकोंमें सिर डुबाये रहता था—कोई ग्रन्थ लिखा करता था और अधिकांश गप्पबाजी तथा आपसकी आलोचना-प्रत्यालोचनामें अपना समय नष्ट करते थे। एक वृद्ध गाँधीवादीसे वह बहुत प्रभावित हुआ था। वह हमेशा मुसकराते रहते थे। उनकी सफ़ेद दाढ़ी थी और वे एक ऋषि-से लगते थे। कभी उनके चेहरेपर शिकन दिखलाई नहीं पड़ी—वे कभी उदास नहीं दिखे। उनका नाम था—रघुनाथ द्विवेदी। सब कोई उन्हें 'पण्डितजी' कहा करते थे। वृद्ध होनेपर भी उनकी आँखोंमें एक अपूर्व चमक थी—चेहरेपर एक मनोहर कान्ति थी। लोग कहते थे—प्राचीन साहित्यके वे पण्डित हैं। सन् २१ में अच्छी वकालतपर लात मार दी और गांधीजी की आँधीमें कूद गये। कई बार उन्हें जेलकी सज़ा हुई। यह उनकी चौथी जेल-यात्रा थी।

पण्डित रघुनाथ द्विवेदी ब्राह्मण थे और ब्राह्मणके ऊँचे संस्कार उनमें विद्यमान थे। उन्होंने बहुत अच्छा कण्ठ पाया था और प्रातः-संध्या वे प्रार्थना करते थे। उनकी प्रार्थनामें वह आकर्षण था कि लोग उनके स्वरमें स्वर मिलाकर गाने लगते थे। उनकी प्रार्थनामें गांधी-आश्रममें गाये जानेवाले विभिन्न धर्म-ग्रन्थों एवं पुस्तकोंके अंश रहते थे। रोज़ गाते रहनेके कारण वे प्रार्थनाएँ उसे कंठस्थ हो गई थीं।

प्रातःकालीन प्रार्थनाके ये स्तोत्रः

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय

नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय।

नमोऽद्वैत-तत्त्वाय मुक्तिप्रदाय
नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ॥
त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं
त्वमेकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम्।
त्वमेकं जगत्कर्तृ - पातृ - प्रहर्तृ
त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम् ॥

मन-प्राणमें एक अलौकिक ज्योति उद्भासित हो उठती थी। सारा दुःख मोमकी तरह घुल जाता था। पण्डित द्विवेदीकी प्रेरणासे उसने अध्यात्म-सम्बन्धी साहित्य पढ़ना शुरू किया। वेदान्तकी सूक्ष्म बातें समझनेमें कठिनाई होती थी। दर्शनकी गुत्थियाँ बड़ी पेचीदी थीं। पर उनके अध्ययनमें बड़ा रस मिलता था। एकान्तमें वह घण्टों जीव और जगत्के विषयमें सोचता—यह सृष्टि क्यों है? वह कौन-सी शक्ति है जिससे यह ब्रह्माण्ड परिचालित होता है? हम जन्म क्यों लेते हैं, सुख-दुःखकी अनुभूतियाँ क्यों होती हैं और मृत्यु क्या चरम अवसान है? उसके उपरान्त फिर क्या है?

कैम्प जेलमें उस-जैसे तरुण अनेक थे। पर अधिकतर वे गर्म मिजाजके थे। अधिकतर कालेजके विद्यार्थी थे जो सहज आवेशमें आकर आन्दोलनमें सम्मिलित हो गये थे। वामपंथी विचार-धाराके पोषक थे यद्यपि वे कम्युनिस्ट नहीं थे। गाँधीवाद और कम्युनिज्मके बीचके रास्तेपर वे चलना चाहते थे। प्रार्थनामें उनका विश्वास नहीं था, हृदय-परिवर्तनमें उनकी आस्था नहीं थी और वे हर संभव उपाय अपनानेके लिए तैयार थे। वे रात-दिन बहस करते थे। राजनीति भी उनके लिए एक 'फैशन' समान थी और वे अपने को 'हीरो' साबित करना चाहते थे।

जेलका जीवन कभी-कभी बड़ा मनहूस लगता था। उसे घरकी याद आती थी, गाँवका पोखरा याद आता था। मुक़दमेके दौरानमें

उसके बड़े भाई आये थे। पुलिसके अत्याचारोंसे तंग आकर उसे अपने गाँवका नाम और पता बतलाना पड़ा था। बड़े भैय्या सिर्फ़ पहचानने के लिए लाये गये थे। उसे देखकर उनकी आँखें विस्फारित रह गई थीं जैसे वह कह रही हों–"तू अभी तक ज़िन्दा है?" सात सालसे वह ग़ायब था और शायद सभीको यह विश्वास हो गया था कि वह इस संसारमें नहीं रहा। पुलिसको उन्होंने कहा–"हाँ, इस लड़केका नाम सुधीर है–यह मेरा चचेरा भाई है पर इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। बचपनमें ही जब यह १२ सालका था–घरसे भाग गया। पता नहीं, अब तक कहाँ रहा।" और न्यायने पाँच सालके लिए उसे सख़्त क़ैदकी सजा दी।

न्याय......

उस न्यायपर व्यंग्यकी मुसकान फैल गई थी। उसने जजसे कहा था–"हाँ, मैं ब्रिटिश-साम्राज्यका दुश्मन हूँ और उसे अपने देशसे भगानेके लिए सब तरहके प्रयत्न करूँगा–ज़रूरत पड़ी तो हिंसा भी कर सकता हूँ। शान्ति और सभ्यताके नामपर आप मुझे गोली मार सकते हैं, पर मैं अपने देशको ग़ुलाम नहीं रहने दूँगा।"

फैसलेमें कहा गया था–"अपराधीकी उम्र कम है, पर यह बड़ा ख़तरनाक है। यह राजद्रोह फैलानेवाले पर्चे बाँटता है और युद्धमें देशकी शान्ति भंगकर शत्रु-पक्षका साथ दे रहा है। पाँच साल सख़्त क़ैद।"

न्यायके इस नाटकपर उसे हँसी आई थी। यह तो एक गँवार तक समझ सकता था–अपने देशपर दूसरोंको हुकूमत करने क्यों दी जाय? पर यह बात हिन्दुस्तानी जजके दिमाग़में नहीं आई थी या आई थी तो वह न्यायका ढोंग कर रहा था। उसकी भी विवशता थी, चाहे वह सत्य क्यों न समझता रहा हो।

'पाँच साल......

पाँच सालकी अवधि बहुत होती है। एक साल बीत गया था। आन्दोलन छिट-फुट रूपसे चल रहा था पर विदेशी हुकूमतकी सारी शक्ति आन्दोलनको दबानेमें लगी थी। इण्टरका कोर्स वह पूरा पढ़ चुका था पर परीक्षा नहीं दे सका। अब वह स्वाध्याय करने लगा। हिन्दी-अँग्रेज़ी की जाने कितनी पुस्तकें चाट गया। इसी एक कार्यमें संतोष मिलता था। दिन पर दिन इसी प्रकार बीतते जाते थे। तीन वर्ष कट गये।

चौथे साल एकाएक ख़बर आई कि लड़ाई बन्द हो गई। मानवता की रक्षाके लिए जापानके दो शहरोंपर अणु-बम फेंके गये। लाखों व्यक्ति अणु होकर बिखर गये। महायुद्ध बन्द हो गया था।

भारतमें राजनीतिका वातावरण बदल चुका था। समझौतेकी चर्चा होने लगी थी। दूसरे सालके प्रारम्भमें उसे छोड़ दिया गया। अब वह आज़ाद था और देशके आज़ाद होनेकी बाट जोह रहा था।

जेलसे छूटनेपर सवाल हुआ—अब क्या किया जाय? घर वह जा नहीं सकता था, इसलिए उसने फिर कलकत्तेका रास्ता लिया। पिछले वर्षोंमें कलकत्ताकी हालत बदल गई थी। लड़ाईसे छूटे हुए जवान नौकरीकी खोजमें घूमते नज़र आते थे। चीज़ोंके भाव बहुत बढ़ गये थे। लोगोंमें असहिष्णुता और भी बढ़ गई थी, साम्प्रदायिकताका राक्षस अट्टहास कर रहा था। उसने कई समाचार-पत्रोंके दफ्तर तलाश किये। कहीं जगह नहीं थी। वह सेठ हजारीमल चौरसियासे भी मिला। उन्होंने एक और नई इमारत बनवा ली थी—'बुइक'कार खरीद ली थी और अब उनकी कोठीके बाहर नेपाली सन्तरी बन्दूक लेकर पहरा देता था।

सन्तरी उसे घुसने ही नहीं देता था। मैले कपड़े और बढ़ी हुई दाढ़ी इसके कारण थे। बड़ी मुश्किलसे वह भेंट कर पाया।

सेठजीने उसे पहचाना नहीं। माथेपर बल देकर सोचते रहे। बोले—"तुम्हें कहीं देखा ज़रूर है, पर कहाँ देखा है...यह नहीं कह सकता।"

उसने 'प्यारा भारत' का स्मरण दिलाया।

वे हो-होकर हँस पड़े—"ओ तुम सुधीर हो! ऐसी हालत क्यों बना रखी है?"

वह बोला—"आन्दोलनमें जेल चला गया था। ३–४ रोज़ पहले छूटा हूँ।"

"हाँ, हाँ देश-सेवाका काम तो हर जवानको करना ही चाहिए। तुम्हारे त्यागसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हारी क्या मदद कर सकता हूँ?" सेठजी ने पूछा।

"कोई नौकरी......?"

"भाई, नौकरी मेरे पास कहाँ है। अब तो मैं अख़बारका धंधा बन्द कर चुका हूँ। आजकल फिल्मोंका बिजनेस है...उसमें तुम क्या कर सकोगे?"

"जी, आप जो कहेंगे...आप मौक़ा तो दें..."

सेठजी जाने क्या सोचते रहे। बोले—"अच्छी बात है। कल दोपहरको दफ्तरमें मिलना। दफ़्तर चौरङ्गीमें है—"फ़ाइन फिल्मस् डिस्ट्रिब्यूटर्स।"

दूसरे दिन हज़ामत बनवाकर साबुनसे रातो-रात साफ़ किये गये कपड़े पहनकर वह 'फाइन फिल्मस् डिस्ट्रिब्यूटर्स' के दफ्तरमें पहुँचा।

काम उसे मिल गया। सौ रुपये तनख़्वाह। प्राइवेट सेक्रेटरीसे लेकर लिखा-पढ़ीका सारा काम। बीच-बीचमें सेठजीके साथ बम्बई-यात्रा।

फिल्मोंकी दुनिया निराली थी। इस दुनियासे उसका पता न था। अब वह एक सुन्दर जवान दीखता था। सेठ साहबने दो सूट बनवा दिये और उसके पदका नाम भी 'मैनेजर' कर दिया। क़िस्मतकी बात! जबसे वह मैनेजर बना, सेठजीका बिजनेस बढ़ने लगा। जो-जो फिल्म ख़रीदी गई—वह 'हिट्' साबित हुई। रुपये जैसे बरसने लगे। सेठजी को उसपर और उसके सुझावोंपर बड़ा विश्वास था।

उसने हिसाब लगाकर देखा—एक सालमें सेठजीको पाँच लाख रुपयेका मुनाफ़ा हुआ—पर उसका वेतन सौ ही था। उसे यह अन्याय प्रतीत हुआ। सारा काम वह ख़ुद सँभालता था, फिल्मोंका चुनाव करता था, प्रचारके साधन चुनता और रात-दिन एककर फिल्मोंको 'बाक्स आफ़िस'के योग्य बनाता था।

सेठजीसे उसने कहा—"मुनाफ़ा तो इस साल काफ़ी हुआ है। मेरे वेतनमें भी..."

"हाँ हाँ, क्यों नहीं—पच्चीस रुपयेकी वृद्धि कर देता हूँ..."

"सिर्फ़ पच्चीस रुपये..."

"तो क्या एक हज़ार कर दूँ?" सेठजीने मानो व्यंग्यसे पूछा।

"मुनाफ़ेको देखते हुए एक हज़ार भी कम होगा सेठजी..." वह आवेशमें बोल गया।

सेठजी स्तंभित रह गये। उन्हें शायद ऐसी उम्मीद नहीं थी। पर जानबूझकर उसने ऐसी बात की थी। इस बीच उसका परिचय कई अच्छे फिल्म डिस्ट्रिब्यूटर्ससे हो गया था और वे उसे पाँच सौ वेतन देनेके लिए तैयार थे।

दूसरे दिन उसने अपना इस्तीफ़ा सेठजीके पास भेज दिया और बागड़ियाजी के 'आइडियल फिल्मस् डिस्ट्रिब्यूटर्स' में नौकरी कर ली।

उसकी पाँच सौ पर नियुक्ति हुई। इस कार्यको करनेमें ज़रा भी हिचक नहीं हुई। जब सेठ हजारीमल सिर्फ़ अपना ही स्वार्थ देखते हैं, तो वह क्यों पीछे रहे? एक वर्षमें पैसे कमानेके बहुतसे गुर मालूम हो गये थे। पहले उन्हें अपनानेमें वह हिचकता था। सिद्धान्त और आदर्शके लम्बे सूत्र सामने आ जाते।

पैसोंने उसका ध्येय बदल दिया। जीवनके तीखे अनुभवोंने सिखा दिया कि पैसा ही आजके युगका आदर्श है।

भारत आज़ाद हो चुका था। विदेशी दासताकी बेड़ियाँ कट गई थीं। शासनका भार उनके हाथमें था जिन्होंने देशके लिए असंख्य क़ुर्बानियाँ की थीं।......

सेठ बागड़िया यों आदमी अच्छे थे पर 'सुरा' और 'सुन्दरी' पर उनकी आसक्ति आवश्यकतासे अधिक थी। वे करोड़पति थे। बाप भागूमल बागड़िया दो जूट मील—तेरह भवन और तीन करोड़ नगद छोड़ गये थे। भागूमलके बेटे पन्नामल बागड़िया बचपनसे ही रसिक निकले। फिल्मोंकी सुन्दरियाँ उनके मनको मोह लेती थीं और 'हीरो' के स्थानपर वे अपनेको हमेशा 'हिरोइन' के साथ जोड़ देते थे। सेठानी मोटी और नाटी थीं। वे बैलून-सी फूली हुई लगती थीं और गहनोंसे अपनेको हमेशा लादे रहती थीं। सेठ पन्नामलको 'पतली कमर है, तिरछी नज़र है' जैसी लड़कियोंके प्रति बड़ा आकर्षण था। वे अपने स्वर्गीय बाप भागूमलको कोसते थे कि उनका ब्याह एक 'डनलप टायर' से कर दिया। सेठानी तीसरे दर्जे तक पढ़ी थीं और उनके बोलनेके ढंगमें कहीं कुछ रोमांस नहीं था। वे सिर्फ़ खाने-पीने और 'जीमने' की बातें करती थीं। खाने-पीने और जीमनेमें ही सेठानीका सारा समय निकल जाता था। प्रतिक्रिया स्वरूप सेठजी पतली कमरवाली लड़कियों को पानेके लिए पैसे खर्च करने लगे। और यह दुनिया भी ऐसी है

कि पैसोंके बलपर चाहे जो खरीद लो। ईमान, आबरू, इज़्ज़त, कला......सभी कुछ।

सेठ हजारीमलको यह बीमारी नहीं थी। उन्हें 'देशभक्त', 'समाज-सुधारक' और 'नेता' बननेका शौक़ था। इसी शौक़के लिए उन्होंने 'भारत-माता' निकाला था। किसी सभा-सोसाइटीका सभापति बनना वे सबसे बड़ा कर्त्तव्य मानते थे। अख़बारोंमें उनका फोटो प्रायः छपा करता था और अख़बारोंमें छपे अपने फोटोको देखकर वे अत्यन्त हर्षित होते थे। कलकत्तेकी प्रायः सभी प्रमुख सार्वजनिक संस्थाओंसे उनका सम्बन्ध था। दुखियारी बहनोंकी संस्था 'नारी-कल्याण समिति' के वे सभापति थे। यह बात दूसरी है कि कुछ मनचले आलोचक यह कहते पाये गये कि सेठजीका सम्बन्ध समितिकी अध्यक्षासे 'रहस्यमय' है और समितिकी लड़कियोंपर वे शुभ दृष्टि नहीं रखते...।

सेठ बागड़िया के यहाँ छः सात महीने कार्य करके मन ऊबने लगा। सेठको अपने धन्धेमें कोई विशेष दिलचस्पी नहीं थी और न वे पर्याप्त पूँजी ही लगाते थे। सुरा और सुन्दरीके पीछे वे इस क़दर दौड़ते थे कि अगल-बगल देखनेकी फ़ुर्सत ही नहीं मिलती थी। एकाएक क्या मनमें आया कि दस रोज़की छुट्टी लेकर वह अपने गाँव चला आया।

वह पूरा साहब बनकर आया था। फेल्ट हैट, क़ीमती सूट और चमकती टाई—चमचमाते हुए जूते। जब वह गाँवमें पहुँचा तो किसीने उसे नहीं पहचाना। उसने फेल्ट हैटको सिरपर थोड़ा झुका लिया था। जब वह अपने घरके सामने आ खड़ा हुआ तो भाभी सूपसे चावल फटक रही थीं। एक साहबको घरके अन्दर आता देखकर वह 'दैय्या रे' कहती हुई भीतर भागने लगीं। 'भाभी' पुकारनेपर बड़ी मुश्किलसे वे रुकीं, पर झिझकी खड़ी रहीं।

उसने आगे बढ़कर उनके चरण छुए। बोला—"मैं आपका सुधीर हूँ, बड़ी भाभी।'

पता नहीं यह उसकी विदेशी वेष-भूषाका प्रभाव था या वे स्वयं बदल गई थीं—उसे पहचानकर वे अत्यन्त पुलकित हुईं। सारे गाँवमें शोर मच गया। सुधीर तो विलायतसे लौटा है। गाँवके सभी आदमी उससे मिलने, हाल-चाल पूछने आये। तीसरे दिन वसन्त-पंचमीकी छुट्टीमें भाई साहब भी लौटे। उन्हें भी उसके परिवर्तित रूपपर आश्चर्य हुआ।

भाई साहब स्वभावतया सहृदय आदमी थे। सुधीरने अपने काम के विषयमें बताया, साथ ही यह भी कहा कि यदि कोई आदमी साझे-दारीमें पचास हज़ारकी पूँजीसे भी उसकी मदद करे तो वह और भी चमक सकता है। भाई साहबको अपने बचपनके मित्र शंकरलाल श्रीवास्तव याद आये। उसे साथ लेकर वे दूसरे दिन शहर आये। बातें हुईं। शंकरलालजीने इस धंधेमें पचास हज़ार लगाना स्वीकार कर लिया। मुनाफ़ेमें बारह आना शंकरलालजीका होता, बाक़ी सुधीरका। दो सालमें ही सुधीरके पास सब कुछ हो गया—मोटर, ख़ूबसूरत फ्लैट और बैंक में पचास हज़ार रुपये।......

......यकायक गेस्ट रूमकी घड़ीने तीन बजाये। सुधीरकी चेतनाको जैसे एक धक्का लगा। तो अभी तक वह सोया नहीं। पिछले जीवनकी स्मृतिमें खो गया......आज जीवनमें एक नई अनुभूति हुई—नारीके स्पर्शकी विचित्र अनुभूति। पर शीला नागिनकी तरह उछल गई थी...यह उसने अच्छा नहीं किया। आज तक वह अपनी भाव-नाओंपर क़ाबू पाता आया। आज भावना ही हावी हो बैठी। सोचते-सोचते सिरमें दर्द होने लगा था। करवट बदलकर उसने आखें बन्द कर लीं और सोनेका प्रयास करने लगा।

सबेरे जब सुधीरकी आँखें खुलीं तो धूप चढ़ आई थी। रात दुःस्वप्न में बीती। नौकर उसके जगनेकी प्रतीक्षा कर रहा था। नहा-धोकर वह थोड़ा स्वस्थ हुआ। उसने चाय पीते समय ही निश्चय कर लिया—आज वह यहाँसे चल देगा। वह किसीके साथ विश्वासघात करना नहीं चाहता था। शीला भी भरी-भरी दिखी थी।

शंकरलालजीसे वह बोला—"आज मैं कलकत्ते लौट जाना चाहता हूँ।"

"क्यों, इतनी जल्दी क्या है। और फिर तुम तो बीस तारीख़ तक ठहरने वाले थे। आज तो पन्द्रह ही है।" शंकरलालजीने कहा।

"जी...बात यह है कि बड़े काम तो हमने निपटा लिये हैं। बाक़ी ठीक ही हैं।"

शंकरलालजी चुप हो गये।

"मैं आज शामकी गाड़ीसे चला जाऊँगा।"

शीला ड्राइंग-रूममें पड़ी किसी पत्रिकाके पन्ने उलट रही थी।

आज वह बाहर नहीं गया। वापस गेस्ट रूममें लेटा अख़बार पढ़ता रहा। शंकरलालजी कामके सिलसिलेमें बाहर निकल गये।

"आप आज ही क्यों जा रहे हैं?" शीलाका स्वर सुनकर वह चौंका। शीला कमरेमें आकर पूछ रही थी। शीलाका स्वर भींगा हुआ-सा लगता था।

अख़बार परे कर उसने शीलाको देखा। वेदनाकी प्रतिमूर्त्ति-सी एक सुन्दर नारी खड़ी थी।

"मेरे रहनेसे आपका अहित हो सकता है।" सुधीरने संयत स्वरमें उत्तर दिया।

"मैं अपना हित-अहित ख़ूब समझती हूँ...आप ऐसा क्यों कर रहे हैं, मैं जानती हूँ।"

शीलाके कथनकी तीक्ष्णता सुधीरसे छिपी नहीं रही। सुधीर बोला—"हम मनुष्य हैं। मुझे अपनी दुर्बलताका परिचय मिल गया है। आपके जीवनको गँदला नहीं करना चाहता।"

"मेरे जीवनमें गँदलापनके सिवा और अब रहा ही क्या है... आप मेरे पंकिल जीवनमें कमलकी भाँति उगे थे—" शीलाका स्वर रुँधा था।

सुधीरके सारे शरीरमें एक सिहरन हो गई। उसे लगा जैसे उसके जलते हुए कण्ठमें किसीने अमृतकी बूँदें टपका दीं।

शीला कह रही थी—"क्या अच्छा है और क्या बुरा है—यह मुझसे अधिक आप समझते हैं। पर इतना सच है कि आपको देखकर मुझे सुख मिलता है, आपसे बातें कर मैं उजालेमें आ जाती हूँ। मेरे भीतर बहुत अंधकार है। मैं तो मरना चाहती हूँ!" शीलाकी आँखोंसे आँसू टपक रहे थे।

बेवसी और दुःखके ये आँसू......शायद युगोंसे नारी ऐसे ही आँसू बहाती आई है और पुरुष उन्हें देखता आया है......आँसू ही संबल है नारी का......पुरुष क्या इतनी जल्दी आँसू बहा सकता है? वह तो अपनी आँखोंमें चिनगारियाँ रखता आया है—आँसू चिनगारियोंकी ज्वालामें नहीं जमते। वे तो जलकर सूख जाते हैं।

चुपचाप आँसू गिरते रहे, चुपचाप सुधीर देखता रहा। वह बोलना नहीं चाहता। शीला भी मौन हो गई थी। आँसूमें ही मानो उसका मौन मुखर था—"मैं तो मरना चाहती हूँ, सुधीर बाबू!"

"एक बात पूछूँ शीला ?" सुधीरने जैसे हलके स्वरमें पूछा।

शीलाने अपनी करुणार्द्र आँखें ऊपर उठाईं।

"तुम अपने पतिको छोड़ सकती हो ? मेरे साथ चल सकती हो...?"

जैसे किसीने तमाचा मार दिया हो, शीला भौंचक और सहमी दृष्टिसे सुधीरको देखने लगी।

सुधीर बोला—"मैं जानता था, यह प्रश्न तुम्हें कड़वा लगा है। मैं यह भी जानता हूँ कि तुममें इतना साहस नहीं होगा। यह तो संस्कारोंसे ऊपर उठनेकी बात है। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं। तुम घुल-घुलकर मर जाओगी, पर ऐसी बात तुम नहीं सोच सकतीं—और मैं ? मैं पर्देके पीछे कोई नाटक नहीं करना चाहता। मैं जो कुछ करूँगा, डंकेकी चोट करूँगा। जब तक समाजपर ऐसी चोटें नहीं पड़ेंगी—तुम जैसी लड़कियाँ ऐसे ही घुलती रहेंगी।"

अभी ग्यारह बज रहे थे पर गरम हवाका बहना शुरू हो गया था। सुधीरको रात अच्छी नींद नहीं आई थी। सिरमें दर्द था और अङ्ग-अङ्गमें पीड़ा हो रही थी। आँखें भी सुर्ख लग रही थीं। नहानेके बाद बुख़ार आनेके लक्षण दिखलाई पड़ रहे थे।

कुछ क्षणों तक कमरेमें सन्नाटा रहा। सिर्फ़ बाहर गरम हवाके झोंके चल रहे थे और उनसे एक विचित्र प्रकारकी ध्वनि आ रही थी। लगता था जैसे प्रकृति हाहाकार कर रही है और अपनी गर्म उसासें फेंक रही है।

सुधीरने कहा—"माफ़ करेंगी—बातें करनेमें 'आप' या 'तुम'का ध्यान नहीं रहा। मुझे बुख़ार मालूम हो रहा है। मैं लेटना चाहता हूँ।"

शीला अन्तिम बातपर चौंक गई। चुपचाप बिना एक शब्द कहे

सुधीरके पास आ गई और अपना हाथ उसके सिरपर रख दिया। बुख़ार तेज़ लगा। उसने कहा—"आज आप नहीं जा सकते।"

जलते माथेपर मानो चन्दनका लेप लग गया। शीलाका शीतल, स्नेह-भरा हाथ अपने सिरपर पाकर सुधीर चुप रहा। स्पर्श क्या इतना सुखदायक हो सकता है? वह इस 'क्षण' में जी लेना चाहता था। ऐसा क्षण उसके जीवनमें कब आया था?

बिना कुछ कहे शीला कमरेसे बाहर चली गई। सुधीर आँखें बन्द किये पड़ा रहा। दोपहर बीतते-बीतते बुख़ार काफ़ी बढ़ गया। जोड़ोंका दर्द भी असह्य प्रतीत हुआ। शंकरलालजी दोपहरको जब 'लंच' के लिए आये तो सुधीरकी हालत देखकर बोले—"पागलपन न करो सुधीर, जब तक तुम अच्छे नहीं होते, यहाँसे तुम्हारा जाना नहीं हो सकेगा।"

और सुधीरको एक सप्ताह तक वहाँ और रुक जाना पड़ा।

शीलाने सुधीरकी सेवा-शुश्रूषाका भार अपने हाथमें लिया। इस कार्यमें उसे जाने एक कैसा सन्तोष मिल रहा था। घण्टों वह सुधीरके पास बैठी रहती। बातें नहीं करती। सिर्फ़ सुधीरको देखती रहती। इस देखते रहनेमें भी जाने एक कैसा अनिवर्चनीय सुख था। आत्म-तुष्टिकी झलक उसके मुखपर चमकती। सुधीर कहता—"अब आराम करो......मैं तो ठीक हो रहा हूँ।"

शीलाने उसके बार-बार 'आप' कहनेपर रोका था—"मैं आपसे छोटी हूँ—'भाभी' तो आपने ही बना दिया। आप मुझे 'तुम' नहीं कह सकते?" सुधीर अब शीलाको तुम ही कहता।

शीला बोली—"मैं क्या इतनी बुरी हूँ जो आप मुझे अपने पास बिठाना नहीं चाहते?"

ऐसे तर्कका उत्तर सुधीर क्या देता ? पर भीतर ही भीतर उसे एक ऊमस-सी लग रही थी। शीलाका सान्निध्य रुचिकर था, सुखकर था पर उसमें एक द्वन्द्वका जाल भी था। वह अपने मनसे तर्क करता—शीलाको तुम किस ओर ले जाना चाहते हो ? एक विवाहिता लड़की से प्रेमकर तुम क्या एक 'अवैध' और 'अवांछनीय' स्थिति नहीं उत्पन्न कर रहे हो ? माना कि तुम हृदयकी पुकारको महत्त्व देते हो, पर तुम्हारे दर्शनमें तो 'भोग' की गन्ध है। क्या 'पाना' ही सब कुछ है, 'खाने' का कोई महत्त्व नहीं ?

बुद्धि अपने तर्कके तीर फेंकती—अवैध और अवांछनीयका नामकरण तो तुम्हारे संस्कारोंने दिया है। युगोंसे चली आ रही एक ग़लत धारणा को तुम क्यों स्वीकार करोगे ?......स्त्री और पुरुषके सम्बन्धमें सहज, स्वाभाविक अनुरागकी स्वीकृति होनी चाहिए......बलात् और रूढ़िग्रस्त सम्बन्ध तो कृत्रिम मानवोंके बीच हो सकते हैं...हाड़-मांससे बने मानव अपने हृदयकी धड़कनको क्यों झूठा बतायें ?

शीलाको देखकर उसका हृदय स्पन्दित होता है—सहज, स्वाभाविक रूपसे। यह कृत्रिम नहीं है। शीलाकी आँखें भी अपनी व्यथा कहती रहती हैं। शब्द कम हैं। शब्दोंसे अधिक भावोंका तादात्म्य है। शब्द बहुत-सी बातें नहीं कह सकते। वे कह भी नहीं पाते। शब्द जहाँ मौन रहते हैं—कभी-कभी भावना उतनी ही तीव्र रूपसे अभिव्यंजित होती है। ऐसी अभिव्यंजनाएँ आँखें बहुत शीघ्र पढ़ लेती हैं।

पर क्या वह आगसे खेल खेलेगा ? स्वयं तो झुलस ही जायगा, अपने साथ औरोंको भी झुलसा देगा। शंकरलालजी उसपर विश्वास करते हैं। उनके विश्वासका क्या वह अनुचित लाभ उठायगा ? माना कि शीला और उनमें सामंजस्य नहीं है। शीला भूखी है। प्रेमकी, स्वाभाविक अनुरक्तिकी। शायद अतृप्त आकांक्षाएँ हैं जो उसके अन्तरमें उमस

रही हैं। भीतर ही भीतर धुँआ है और वह बाहर निकलनेका मार्ग नहीं पा रहा। क्या करे सुधीर...? वह अपनी आँखें मींचकर घंटों सोचता। विवेक और आस्थाका द्वन्द्व अहर्निश चलता।

शीलाको लग रहा था—सुधीर उसके मनपर छा गया है। सोते-जागते, उठते-बैठते सिर्फ़ सुधीर ही उसके अन्तरमें था—और सभी शून्य था। वह अपने पतिकी प्रतिक्रियासे भी जैसे अपरिचित हो गई थी। लगता था वह 'सम्मोहित' है और सम्मोहनका घेरा उसे सुधीरसे अलग होने नहीं देता था। सुधीर जब सोता भी रहता, वह मोढ़ेपर उसके सिरहाने बैठ उसे देखती रहती। इस देखनेमें कोई अर्थ नहीं रहता—लगता, जैसे शीलाकी दो स्थिर आँखें सुधीरके आननपर गड़ी हैं। आँखोंकी पुतलियाँ तक नहीं हिलतीं।

शंकरलालजी की आँखोंसे शीलाकी प्रतिक्रिया छिपी नहीं रही। उनकी आँखें भावोंको पहचाननेमें निष्णात थीं और फिर अपनी पत्नीकी आँखोंकी भाषा पतिसे छिपी नहीं रहती—चाहे वह प्रौढ़ और अरसिक ही क्यों न हो! पर वे चुप रहे। इस सम्बन्धमें उन्होंने शीलाको एक शब्द भी नहीं कहा। यह नहीं पूछा—घण्टों सुधीरके कमरेमें बैठनेका अभिप्राय क्या है? उसे ऐसी दृष्टिसे देखनेका तात्पर्य क्या है?

शंकरलालका चरित विरोधाभासोंका पुंज था। उन्होंने दुनियाके अनेक आँधी-तूफ़ान झेले थे। लड़कियों और रूपजीवाओंसे उनका परिचय घना था। उठती उम्रसे उन्होंने पैसोंके साथ यौवन को भी लूटा था। पहली पत्नी गवई-गाँवकी थीं। निरक्षरा थीं—व्रत-उपवास करतीं थीं कि उन्हें कोई सन्तान हो। साधुओंसे भभूत माँगती थीं—गंगा मैया-को मनौती मानी थीं। जाने कितने प्रयत्न उन्होंने किये पर उनके आँचल पर दूधकी बूँद कभी नहीं गिरी—सिर्फ़ लोने-खारे आँसू गिरते रहे। यौवन इसी कसकमें बीतता गया। भ्रमर तो फूल-फूल पर मँडरा रहा

था। पर पहली पत्नीको भी उन्होंने किसी प्रकारके भौतिक सुखसे वंचित नहीं रखा। तिजोरीकी चाभी वे ही सँभालतीं। हर महीने क़ीमती आभूषण और वस्त्र आते। पर पत्नीके मनमें सन्तान-सुखकी कलक थी। पतिके मानसिक अत्याचारोंको वे सह लेती थीं क्योंकि बचपनसे ही उन्हें सहना सिखाया गया था। वे ऐसे परिवारकी बेटी थीं जहाँ औरत 'गूँगी' बनकर जन्म बिता देती है। पिटती है, भूखी रहती है, पतिके जूठे खाती है, उसके पैर दाबती है और फिर उसके लिए 'तीज' 'छठ' या ऐसे ही व्रत रखकर भगवान्से प्रार्थना करती है कि उसका सौभाग्य 'अखंड' रहे। सधवा रहकर—माँगमें सिन्दूर भरकर वह पतिके चरणोंपर अपना शरीर त्याग दे।

युगने थोड़ी खुली साँस ली थी। निम्न मध्यवर्गकी पढ़ी-लिखी लड़कियोंने अपने भीतर असंतोषका अनुभव किया था। पति अब भी 'प्रणम्य' था, पर वह बिलकुल गूँगी नहीं थी। कभी-कभी दो-चार शब्द वह बोल लेती थी। शीलाने नये युगमें जन्म लिया था—थोड़ी शिक्षा भी मिल गई थी। कड़वी वस्तुको निगलनेमें चेहरेकी जैसी आकृति हो जाती है—वैसी ही भावना रह-रहकर उसके चेहरेपर झलक जाती थी।

शंकरलालने शीलाकी उत्सुकताको पहले साधारण शिष्टाचार प्रदर्शनके रूपमें ग्रहण किया। पर जब शीलाकी उत्सुकता आकुलतामें परिणत होती गई तब उन्हें सोचना पड़ा। अपने अधिकार और स्वत्वका प्रदर्शन वे कर सकते थे पर वे अनुभवी आदमी थे। उम्र बढ़नेपर और कुछ न भी बढ़े—गम्भीरता तो बढ़ ही जाती है। शंकरलाल भी गम्भीर प्रकृतिके होते जा रहे थे। पचासवाँ उन्हें छू रहा था और सिरका गंजा-

पन बढ़ चला था। शारीरिक शक्तिकी कमी वे महसूस नहीं करते थे। बादाम, पेश्ता, अंगूर आदि फलोंका रस सभी पर्याप्त मात्रामें उनके लिए सुलभ थे और इनका उपयोग करनेमें उन्होंने कभी कंजूसी नहीं की। पैसेको दाँतसे वे पकड़ते नहीं थे। अनायास चारों तरफ़से उनके पैसे और पैसोंको खींचते थे। वे सिर्फ़ एक कुशल इंजीनियर थे। पैसों की मशीन पैसा पैदा करती है, इस सिद्धान्तसे वे कबके परिचित हो चुके थे। कहाँ रुपया लगाना चाहिये, कहाँ नहीं, इसकी उन्हें परख थी। शेष सारा काम 'आटोमेटिक' था।

शीलाका रूप उन्हें बहुत मोहक लगा था। इतनी सुन्दर लड़की पानेकी उन्हें आशा न थी। शीलाको पाकर एकाएक उनमें परिवर्तन होने लगा था। रूपजीवाएँ छूट गईं—'लाल परी' भी घरसे गायब हो गई। यों कभी मित्रों या अफ़सरोंके साथ क्लबमें थोड़ी 'ले' लेते थे। शंकरलालके इस परिवर्तनमें पता नहीं कौन-सी प्रेरणा काम कर रही थी। वे अपनेको एक कुशल और विश्वासी पति प्रमाणित करना चाहते थे। शीलासे प्रेमालाप करनेका भी उनका बड़ा जी चाहता था, पर जाने एक कैसी झेंप होती थी। भीतर ही भीतर वे अपनेको एक अपराधी पाते थे। पता नहीं—यह उनकी बढ़ती हुई प्रौढ़ताके कारण था या उनके भीतर विवेक जाग रहा था।

विवेक तो हरके अन्तस्‌में है। चाहे वह चोर हो या हत्यारा हो या व्यभिचारी हो। घोरसे घोर दुराचारीके जीवनमें ऐसे क्षण आते हैं जब वह अपने कृत्योंपर लज्जित होता है और भीतर ही भीतर पश्चात्ताप करता है। घोरसे घोर पातकी अपनी सन्तानको 'नेक' और 'सुमार्गी' देखना चाहता है। मनोविज्ञानने प्रमाणित कर दिया है कि कोई व्यक्ति बिलकुल 'धुला हुआ' नहीं होता और न हर 'काला' कार्य करनेवाला सिर्फ़ 'काला' होता है। 'धुला हुआ' आदमी जब अवकाशके क्षणोंमें

अपनेको टटोलता है तो पाता है कि धुले हुऐ आवरणके नीचे जाने कितने काले धब्बे उसने छिपा रखे हैं।

शंकरलालके जीवनमें संभवतः ऐसा ही अवसर शीलाके आगमनपर आया था। वे अपने सारे जीवनको मथते थे और उस मन्थनमें बहुत सारा कचरा निकलता था। अब वे अपने हृदय-पक्ष पर ज़ोर दे रहे थे। अब तक हृदय उपेक्षित था। भावनाको कोई प्रधानता उन्होंने नहीं दी थी। बंगालमें जब लाखों लोग अन्नके अभावमें भूखों मर रहे थे—शंकर-लालजीने हृदय-पक्षको विश्राम करने दिया था और हज़ारों मन 'चावल' सेनाको सप्लाई करते रहे। जनता भूखो फुटपाथोंपर दम तोड़ रही थी पर छटपटाते हुए लोगोंको देखकर भी उनमें पद्-भावना हावी नहीं हो पाई थी। वह 'बिजनेस' कर रहे थे और 'बिजनेस' भावनासे नहीं चला करता। 'बिजनेस' तो शुद्ध गद्य है—इति-वृत्तात्मक शैलीका गद्य। उसमें कल्पना, रूमानी या भावुकताका स्थान कहाँ? परिणाम यह हुआ कि आजके युगका देवता—'रौप्य' उनके सिर पर वरदहस्त फेर रहा था।

शीलाके परिवर्तित रूपपर उन्हें दुःख हुआ—अपने पर थोड़ी ग्लानि भी हुई। क्रोध तो हुआ ही—पर उसे वे पी गये। उनकी हालत एक ऐसे निरीह व्यक्ति की हो गई थी जिसके हाथ-पैर बाँध दिये गये थे और डाकू उसका धन लूटे जा रहा था। पुरुषत्व तड़प रहा था पर वे कुछ कर सकनेमें असमर्थ थे।

सुधीर पाँचवें रोज़ बिलकुल अच्छा हो गया। डाक्टर रोज़ आकर देख जाता था। थर्मामीटरसे टेम्परेचर देखकर उन्होंने पाँचवें रोज़ कहा—"अब बुख़ार नहीं है।"

सुधीरने पूछा—"अब तो मैं सफ़र करने लायक हो गया हूँ।"

शीलाका हृदय धड़कने लगा। उसने कहा—"ऐसी हालतमें सफ़र करना क्या ठीक होगा डाक्टर साहब?"

शंकरलालने कुछ नहीं कहा। सिर्फ़ आखें उठाकर एक बार शीला की ओर देख लिया।

डाक्टर बोले—"कमसे-कम दो-तीन रोज़ आपको आराम करना चाहिए।"

सुधीरका स्वर जैसे दृढ़ था—"नहीं डाक्टर साहब, मैं आज शाम नहीं तो कल सुबह अवश्य रवाना होना चाहता हूँ। बहुत ज़रूरी काम अटके हैं।"

डाक्टरके चले जानेपर शीला अपने पतिसे बोली—"इन्हें समझाइये ....कुछ रोज़ तो इन्हें और आराम करना चाहिए।"

शंकरलालजी मुसकराये। बोले—"इनकी बात भी तुम उठा दोगे, सुधीर?"

सुधीर शंकरलालजीके स्वरसे चौंक गया। शब्दोंकी व्यंजना अपने साथ उनके अनेक अर्थ लाती है। शंकरलालजीके वाक्यमें यह सारा भाव मानो निहित था कि उसकी दुर्बलता वे जान गये हैं।

सुधीर कटिबद्ध था कि वह कल सबेरे चला जायगा।

शीलाकी वह रात कष्टमें बीती। मन कचोट रहा था। सुधीरसे जुदाईकी बात सोचकर बड़ी व्याकुलता होती थी। मानव-मन भी कैसा रहस्यमय है। कुछ दिन पहले जिस व्यक्तिको वह जानती तक न थी—उसके अस्तित्वसे अपरिचित थी, आज उसके लिए आँखोंमें आँसू आ रहे थे। सोनेका बहाना कर वह चुपचाप लेटी रही। उसी कमरेमें दूसरी पलंगपर शंकरलालजी लेटे थे। शीलाकी तड़प उनसे छिपी नहीं थी। पर वे भी सोनेका बहाना कर रहे थे।

रात आधीसे ज्यादा गुजर रही थी और वह ढलनेकी दिशामें थी। शीला उठी। दबे पाँव आगे बढ़ी। बिना आवाज़ किये दरवाज़ा खोला। धीरे-धीरे, हलके क़दमसे वह सुधीरके कमरेमें दाख़िल हुई। बाहर पाँच

पावरका हलका बलब धुँधली रोशनी फेंक रहा था। पता नहीं क्यों सुधीर भी जाग रहा था। शीलाको देखकर वह आश्चर्यमें पड़ गया। बोला—"शीला......तुम......"

शीलाकी आँखोंसे आँसू ढलक रहे थे। वह सुधीरके वक्षपर जा गिरी। अस्फुट स्वरमें बोली—"मत जाओ सुधीर, मुझे छोड़कर मत जाओ। मेरा यहाँ दम घुट जायगा।"

सुधीरने शीलाके बालोंमें हाथ सहलाया—"पागल न बनो शीला। धैर्यसे काम लो। तुम बहुत देरसे मेरे जीवनमें आई।"

शीला एक नासमझ बच्चीकी तरह रो रही थी—"क्या होगा मेरा? ......मैं मर जाऊँगी सुधीर। यहाँ मुझे बहुत डर लगता है......"

सुधीर कह रहा था—"मैंने बहुत सोचकर यह निश्चय किया है शीला कि अब मैं फिर यहाँ कभी नहीं आऊँगा। हमें अपने जीवनसे समझौता करना होगा। और कोई दूसरी राह नहीं है।"

फिर आधीरातमें एक विवाहिता लड़कीकी उपस्थितिका जैसे ज्ञान हुआ हो। वह बोला—"तुम्हें सुबह तक सब्र करना चाहिए था शीला।"

शीला चीख उठी—"क्यों सब्र करूँ—क्यों अपनेको धोखा दूँ? तुम्हींने तो बताया था कि हमें दुनियाको छलना नहीं चाहिए..."

सुधीर चुप शीलाको देखता रहा। रूप और गन्धकी मादकता उसके प्राणोंमें समा रही थी। जीवनमें पहली बार एक नारी उसके इतना समीप थी। यौवनकी गन्धसे सुधीरकी सारी चेतना जैसे सम्मोहित थी। शीला सुबक रही थी। उसके आँसू सुधीरकी बाँहोंपर चू रहे थे।

सुधीरने कहा—"लौट जाओ शीला......अभी सुबह होनेमें बहुत देर है..."

"नहीं......" शीलाको जाने क्या हो गया था। इतने में मंद्र घोषकी तरह आवाज़ आई–"शीला इधर आओ..."

चेतनाको जैसे धक्का लग गया हो। सुधीर और शीलाने चौंककर दरवाज़ेकी ओर देखा–शंकरलालजी गंभीर होकर खड़े थे।

सुबह सात बजेकी गाड़ीसे सुधीर रवाना हो गया।

शंकरलालकी आवाज़पर शीला उठ खड़ी हुई और चुपचाप उनके साथ चली गई। बातें इतनी स्पष्ट थीं कि कहा-सुनीका प्रश्न ही नहीं उठता था। वहाँसे निकलकर वह सीधे अपने कमरेमें गई और बिछावन पर गिरकर सुबकने लगी। वह कब तक सुबकती रही, इसका उसे ध्यान न रहा। सुधीर इस बीच अपना सामान समेटकर चला गया था, इसकी भी उसे संज्ञा न थी।

किसी चीज़के तीव्र आघातसे उसने सिर उठाया। शंकरलालजीकी आँखें लाल हो रही थीं और उनके हाथमें एक छड़ी थी। शायद वे प्रातः भ्रमण कर लौटे थे। उनकी आँखें क्रोधमें फड़क रही थीं और आते ही उन्होंने बड़े ज़ोरका आघात किया था। कमरा भीतरसे बन्द कर लिया गया था। वे जैसे खूँखार भेड़ियेकी भाँति गरज उठे–"तुम...तुम इतनी गिरी निकली।" और वे अन्धाधुन्ध छड़ी उसकी पीठपर मार रहे थे। मारते-मारते थककर वे हाँफने लगे थे। पर शीला चुप थी। वह रो नहीं रही थी। आँखें बन्दकर और ओठोंको दाँतोंसे दाब वह चुपचाप मार सहे जा रही थी।

थककर शंकरलाल छड़ी फेंक बाहर निकल आये। लगा जैसे वे पागल हो जायँगे। उनका दिल ज़ोरोंसे धड़क रहा था और हाथ थरथरा

रहे थे। उन्हें बड़ी प्यास लग रही थी। कंठ सूखा था और सारे शरीर का तापमान बढ़ा लग रहा था। जाकर उन्होंने पुरानी शैम्पेनकी बोतल निकाली और गट-गटकर आधा पी गये। फिर वे बिछावनपर लेट गये और आँखें मूँद कर पड़े रहे।

नौकर-चाकर सभी आतंकित थे। शंकरलालजी जब गुस्सा होते थे तो किसीकी ख़ैर नहीं थी। सभी सहमे-सहमे थे। दोपहरी बीत गई पर किसीको कुछ कहनेका साहस नहीं हुआ।

उधर शीला बेहोश पड़ी थी। अपराह्ण भी बीत गया। गोधूलि आई और फिर सन्ध्या हुई और फिर बत्तियाँ जल उठीं।

जब उसे होश आया तो सारी घटनाएँ एक-एक कर मूर्त्त होने लगीं। उसे तेज़ बुख़ार आ गया था। दूसरे दिन सबेरे उसके कमरेमें डाक्टर आया और उसके साथ पतिदेव भी थे। नौकरानी जानकी बर्फ़ का थैला सिरपर रख-उतार रही थी।

पाँच रोज़ इसी तरह निकल गये। जब बुख़ार थमा तो शीलाने संकल्प किया—वह आत्महत्या करेगी। तीसरे तल्लेसे कूदकर या अपने पर पेट्रोल डालकर वह मौतका आलिङ्गन करेगी...। वह सिर्फ़ मृत्युके विषयमें सोचती। मृत्युकी कल्पनामें सुख मिलता था। लगता था जैसे यही उसके दुःखोंकी एक मात्र दवा है...अब वह जीकर क्या करेगी? उस जीनेमें तो रोज़के मरनेका दुःख होता रहेगा। आत्महत्याको लोग बुरा क्यों मानते हैं?......क्या यह आवश्यक है कि मनुष्य जीना न चाहकर भी जीवित रहे? यह कितना बड़ा व्यंग्य है। आत्महत्याको अपराध या पाप माननेके लिए वह तैयार न थी।

उसका संकल्प दृढ़ होता गया और अब वह अपनेको प्रकृतिस्थ करने लगी। मुसकरानेकी चेष्टा करती। जानकीसे इधर-उधरकी बातें

करती। जानकी भली औरत थी। वह अपनी मालकिनके दर्दको भाँप गई थी और इसलिए घटना-विशेषकी चर्चा वह भूलकर भी नहीं करती।

पति-पत्नीमें बातचीत बन्द थी। शंकरलालजी दूसरे कमरेमें सोते थे। वे शीलाके कमरेमें तभी आते जब डाक्टर जाँचके लिए आता। शंकरलालजी भर दिन अपने काममें मशगूल रहते और रातको देरसे लौटते थे। क्लबमें उनका अधिक समय गुज़रता था और क्लब-बिल्डिंग को बड़ा बनानेकी योजनामें अधिक दिलचस्पी लेने लगे थे।

शीला अब उठकर बैठने लगी थी। जानकी उसके पास हमेशा रहती। वह जल्दसे जल्द आत्महत्या करना चाहती थी। रातका समय ही इस कार्यके लिए उपयुक्त होगा। कलसे वह जानकीको अपने पाससे हटा देगी। आज डाक्टर कह गया है—'अब चिन्ताकी कोई बात नहीं। आप थोड़ा-बहुत टहल सकती हैं।'

आत्महत्याके दिन वह सबेरे उठ गई। बाथरूममें जाकर नहाया और एक सफ़ेद रेशमी साड़ी पहनी। आवश्यकतासे अधिक वह हँस रही थी, जैसे पिछले दिनों कुछ हुआ ही न हो या वह बीमार न रही हो। यह सफ़ेद साड़ी उसके पिताने बड़ी साधसे उसके लिए ख़रीदी थी। शायद बीस-इक्कीस रुपये की है। आज मैका बहुत याद आ रहा था। छोटे भाई-बहनोंकी तस्वीरें घूम रही थीं। अपनी सखियाँ याद आ रही थीं—कुमारी जीवनकी निर्दोष खिलखिलाहट मनमें गूँज रही थी। वह आरामकुर्सीपर लेटी-लेटी इन्हीं सपनोंमें खो गई......

कल वह इस दुनियामें न होगी। इस समय तक शायद वह राख हो चुकी होगी या उसकी लाश पोस्टमार्टम करनेवाले सर्जनके पास होगी...इस रूपका, इस सौन्दर्यका यही तो अन्त है......राख...... एक मुट्ठी राख !......शीलाका सारा शरीर सिहर उठा। इसीके लिए दुनियामें कितना हाहाकार है......घृणा है, कुण्ठा है, आँसू हैं ! मरने

में क्या बहुत तक़लीफ़ होती है ? कौन जाने—मर जानेपर इसकी अनुभूति लिखनेवाला तो कोई बचता नहीं। मृत्यु-समयका दुःख कल्पना ही कल्पना है। मृत्युमें आनन्द ही आनन्द है......छुटकारा...... आज़ाद होकर उसकी आत्मा दूर आसमानकी नीलिमामें खो जायगी और फिर तारेके रूपमें उगकर वह रोज़ दुनियाकी मूर्खता पर हँसा करेगी......

......और यदि तीन तल्लेसे कूदनेपर भी वह नहीं मरी...यदि वह लूली, अपंग होकर बच जाय......हे राम !......यह रूप तो बड़ा घृणास्पद और करुण है। इसकी कल्पना तो सौ मौतोंके दुःखसे भी अधिक भयावह है !......नहीं, वह अपंग या मांसके लोथड़ेके रूपमें इस धरतीपर एक दिन भी नहीं रहना चाहती। वह तो एक क्षणमें मर जाना चाहती है—एक क्षणका कोलाहल और फिर शाश्वत, चिरन्तन, शान्ति !......

"मालकिन.........?" जानकीका स्वर था—"मालकिन, यह चिट्ठी है।"

चिट्ठी......चिन्तन-क्रमकी धारा रुक गई। जानकीसे चिट्ठी ले ली......प्रमिलाकी चिट्ठी थी—लम्बी-सी चिट्ठी......कोनेपर कलकत्ता लिखा हुआ था......कलकत्ता। प्रमिला कलकत्ते कैसे पहुँच गई ?...... साँस रोककर वह चिट्ठी पढ़ने लगी—

दीदी,

मेरी यह चिट्ठी पढ़कर तुम चौंक जाओगी। हाँ, मैं यह चिट्ठी कलकत्तेसें लिख रही हूँ। मैं एक सप्ताहसे यहाँ हूँ। अकेले नहीं हूँ। मेरे साथ मेरे पति भी हैं। तुम सारी चिट्ठी पढ़ लो, यही अनुरोध है फिर लिखो कि मैंने अच्छा किया या बुरा......

दीदी, पिछले मार्चमें मैं मैट्रिक पास कर चुकी, इसकी ख़बर तो तुम्हें दी थी। तुम्हें यह भी बतलाया था कि मैं रेडियो प्रोग्राममें हिस्सा लेने लगी हूँ। अठारहवाँ मेरा बीत चुका है और मैंने जो कुछ किया है, सोच-समझकर किया है।

तुम्हारे विवाहके बाद पिताजी बराबर अस्वस्थ रहे। उनके हृदयमें जाने एक कैसी हूक-सी रहती है। जब मैंने मैट्रिककी परीक्षा पास कर ली तो माँ रोज़ सुबह-शाम मेरे विवाहके लिए पिताजीको उलाहने देने लगीं। पिताजीने कहा—'दहेज न दे सकनेके कारण तो हमने अपनी पहली बेटी शीलाको जाने कहाँ धकेल दिया, अब प्रमिलाकी भी वही दशा हो—यह मैं नहीं चाहता। हम अपना घर बेच देंगे पर शादी लायक लड़केसे ही करेंगे।'

माताजी घर बेचनेके नामपर चीखने लगीं। बोलीं—'ले-देकर सिर छुपानेको यही तो एक घर है। इस खपरैल मकानके ५-६ हज़ारसे ज़्यादा न मिलेंगे, फिर हमारे बच्चे कहाँ रहेंगे? चाहे और जो उपाय करो, घर तुम्हें बेचने न दूँगी।'

रात-दिनकी किचकिच और हाय-हायसे मैं तंग आ गई। महीनेमें प्रायः तीस रुपये मुझे रेडियोसे मिल जाते थे। मैंने पिताजीसे आगे पढ़नेकी इच्छा प्रकट की। पिताजी की तो राय थी, पर माताजी बिल्कुल आग-बबूला हो गईं—'अब रेडियोमें नाच-गाकर पैसे लायेगी। हमारी इज़्ज़त लेगी और क्या?' नतीज़ा यह हुआ कि कालेजमें मैं भर्ती न हो सकी। रेडियोमें मैं बराबर जाती रही। वहीं जगदीशजीसे मेरी भेंट हुई। जगदीशजी और मैंने कई नाटकोंमें साथ-साथ पार्ट किया था। वे बी. ए. पासकर एम. ए. प्रीवियसमें थे। हम दोनोंका परिचय बढ़ता गया। जगदीश ब्राह्मण हैं। माँ-बाप नहीं हैं। ननिहालमें रहकर शिक्षा पाई।

हम लोगोंका यह परिचय प्रेममें परिवर्तित होता गया। एक दिन उन्होंने सकुचाते हुए मुझे एक पत्र दिया और आग्रह किया कि मैं इसे एकान्तमें पढ़ूँ और कल तक जवाब दूँ। मैंने उनका पत्र पढ़ा। उन्होंने मुझसे ब्याह करनेकी इच्छा प्रकट की थी।

रात मैंने पिताजीसे सारी बातें कह सुनाईं। वे असमंजसमें पड़ गये। जातिके प्रश्नपर उन्होंने हिचकिचाहट की। जब माँको यह बात मालूम हुई तो वे बहुत बिगड़ीं और क्रोधमें आकर मारने लगीं। पिताजीको भी उन्होंने बहुत फटकारा। मेरा रेडियो-स्टेशन जाना उन्होंने बन्द कर दिया। पर हम दृढ़ थे। जगदीशजी से मेरा पत्र-व्यवहार एक सहेलीके मार्फ़त चलता रहा और हम लोग सारी बातें ठीककर एक रात कलकत्तेके लिए निकल पड़े।

मैं पिछले रविवारको कलकत्ता आई हूँ। मेरे पास मैट्रिकका सर्टिफ़िकेट भी है जिसके अनुसार पिछले महीने मैं बालिग़ हो चुकी हूँ। आर्य-समाज मन्दिरमें आकर वैदिक रीतिसे हम दोनोंने विवाह कर लिया है। उनके बचपनके कोई मित्र हैं जो यहाँ किसी प्रेसमें काम करते हैं। उनके ही यहाँ अभी हम ठहरे हैं। नौकरीकी तलाश वे कर रहे हैं—अभी मिली नहीं है, पर उम्मीद है कि कहीं न कहीं मिल ही जायगी। नौकरी मिलते ही हम किसी किरायेके मकानमें चले जायेंगे और तब तुम्हें यहाँ आनेका निमन्त्रण देंगे।

दीदी, मैंने अच्छा किया या बुरा, अब तुम्हीं कह सकती हो। मेरी अन्तरात्मा कहती है कि मैंने कोई बुरा या पापका काम नहीं किया। सिर्फ़ 'जाति' एक न होनेके कारण हम विवाह न करें, यह तर्क मुझे ठीक नहीं जँचता। हम दोनोंने राजीख़ुशीसे यह निर्णय किया है। धन, पद या प्रलोभन हम दोनोंके बीच नहीं रहे। मुझे बड़ी इच्छा है कि

अपने पतिसे तुम्हारी भेंट कराऊँ। मुझे पूरा विश्वास है, तुम्हें मेरी पसन्दपर कोई दुःख नहीं होगा।

आते समय मैं पिताजीके नाम एक पत्र छोड़ आई थी। नहीं कह सकती, वे उसे किस रूपमें ग्रहण करेंगे। मुझसे पिताजीका दुःख देखा नहीं जाता। तुम्हारे विवाहके लिए उन्हें जाने कितना अपमान सहना पड़ा। माताजी भी परिस्थितिकी मारी हैं। उनके हृदयमें भी हम बच्चोंके लिए हमेशा कल्याण-भावना ही रही है। पर वे पुराने संस्कारोंसे ऊपर नहीं उठ पातीं। इसका दोष हम उन्हें ही क्यों दें ?

दीदी, जब सोचने-समझने लायक हमारी योग्यता हो जाय, तो फिर जीवन-संगी चुननेका काम हम माँ-बापपर क्यों छोड़ दें ? हम क्यों न इस कार्यमें उनका हिस्सा बटायें ? दुःख इस बातका है कि उनके सोचने-समझनेके ढंगसे हमारा मेल नहीं खाता।

मैं नहीं जानती कि भविष्य क्या होगा ? वर्तमानसे मैं असंतुष्ट नहीं हूँ। छोटी-सी एक कोठरी है। हम दोनों दुनिया भरकी बातें करते हैं। कभी-कभी तो पूरी रात गुज़र जाती है पर हमारी बातें ख़त्म नहीं होतीं।

वे बड़े सुन्दर हैं। हो सकता है कि हर नई दुलहनको अपना पति सुन्दर ही दिखाई पड़ता है, पर मैं सच कहती हूँ दीदी, वे सचमुच सुन्दर हैं। कवि हैं और कविताएँ तो इतने आकर्षक ढंगसे पढ़ते हैं कि मैं झूमने लगती हूँ। पत्र-पत्रिकाओंमें भी इनकी कविताएँ छपती हैं। 'छाया' पत्रिकाके दूसरे पृष्ठपर ही उनकी एक कविता छपी है—'उपालंभ'। अगर 'छाया' तुम्हारे यहाँ आती हो तो पढ़ना।

दीदी, हम ज़मीनपर सोते हैं—पलंग हमारे पास नहीं हैं। उनके पास दो कमीज़ और दो धोतियाँ हैं—मेरे पास सिर्फ़ तीन साड़ियाँ हैं। सूखी रोटी और साधारण-सी कोई सब्जी खाकर हम रहते हैं। पर हमें दुःख नहीं होता—अपने कियेका पश्चात्ताप नहीं होता। हमने क्या

कोई पाप किया है जो हमें दुःख हो? हमने एक-दूसरेको पसन्दकर अपना जीवन-साथी चुना है।

नौकरी मिलते ही हमारी ख़ुशी बढ़ जायगी। अभी तक नौकरी नहीं मिली। जीजाजी को मेरा प्रणाम कहना। वे तो बहुत बड़े आदमी हैं और कलकत्तेमें भी उनका कारबार चलता है। जीजाजीसे कहकर कोई नौकरीका प्रबन्ध उनके लिए तुम करा सकती हो? घरसे मैं एक पैसा या कोई ज़ेवर लेकर नहीं आई। इनके पास सौ रुपये थे, उनसे ही काम चल रहा है।

मेरी अच्छी दीदी, तुम तो हमें बिलकुल भूल गई हो। पिछले तीन महीनोंसे तुम्हारी कोई चिट्ठी या ख़बर नहीं मिली।

बहुत लम्बा पत्र लिख गई, इसके लिए माफ़ करना। तुम्हें पत्र लिखकर मुझे सान्त्वना मिली है। मैं किसी अन्यायके सामने न झुकूँ, तुमसे यही आशीर्वाद चाहती हूँ—

तुम्हारी—
प्रमिला (शर्मा)

प्रमिलाका पत्र पढ़कर शीला सन्न रह गई। प्रमिलाको वह भीरु क़िस्मकी लड़की मानती आई थी। वह ऐसा क़दम उठा सकती है, यह तो कल्पनातीत बात थी। उसके साहसपर उसे एक ओर जहाँ ख़ुशी हुई—दूसरी ओर अपनी भीरुतापर ग्लानि भी।...प्रमिलाने अपनेको बिक नहीं जाने दिया। समाजके कृत्रिम बन्धनोंको उसने उतार फेंका और हृदयकी पुकार पर आगे बढ़ गई।

......आत्महत्या करनेका संकल्प ढीला पड़ने लगा। प्रमिलाके पत्रमें मानो प्रकाशकी एक किरण दिखलाई पड़ी थी। वह क्यों कायरकी भाँति आत्महत्या कर ले?...आत्महत्या तो कायरता और भीरुता है। वह क्यों नहीं सामाजिक अत्याचारोंका मुक़ाबला करे? वह यहाँसे हट जायगी। दूर कहीं चली जायगी। नर्सका काम करेगी, गाँवमें अध्यापिका बन जायगी। दो रोटियाँ तो वह पा ही लेगी। उसके हृदयमें यह जो रात-दिनका बवंडर उठा करता है, इससे तो उसे शान्ति मिलेगी। नहीं चाहिए उसे भवन, कार, ज़ेवर और मालकिनका पद। इन चीज़ोंके अनुभव बड़े कड़वे रहे हैं। भौतिक सुखके इन साधनोंको पानेके लिए अपने आपको बेचना पड़ता है—अपने अरमानोंका गला घोंटना पड़ता है।...और आत्महत्या? यह तो उचित निदान नहीं है—यह तो विवशताका कायरतापूर्ण समाधान है।...नहीं, वह आत्महत्या नहीं करेगी। परिस्थितियोंसे लड़ेगी।

प्रमिलाका पत्र पाकर मनमें जाने कैसी शान्ति छा गई। उद्विग्नताके स्थानपर दृढ़ संकल्प आ गया। लगा जैसे प्रमिलाने उसके अवचेतन मनमें पड़ी विद्रोह-भावनाको अपने कृत्य-द्वारा साकार किया है। काश! वह भी ऐसा कर पाती। उसने तो चुपचाप अत्याचारको अपने माथेपर लद जाने दिया। एक बार भी विद्रोहकी लौ नहीं जली।

वह मानो एक दूसरी शीला बनने जा रही थी। उसने निश्चय किया—सोचना वह छोड़ देगी। घण्टों सोचते रहनेसे, आत्ममंथनसे उसे क्या मिलता है? विवशतारूपी गरल। अन्याय अन्याय है—चाहे वह समाजके नामपर किया जाय, देशके नामपर किया जाय या धर्मके नाम पर। समाजकी संकुचित परिधिसे जो लक्ष्मण-रेखाके समान उसके जीवन-वृत्तके चहुँओर है, वह बाहर आयगी। निषेधोंका वह अतिक्रमण करेगी—क्योंकि ये निषेध उस जैसी लड़कीके जीवनमें मात्र कुण्ठा भरते

आये हैं। वह मूक कर दी गई है—बोलनेका उससे अधिकार छीन लिया गया है।

जानकी आई। पूछा—'फलका रस दूँ मालकिन ?'

'नहीं...' शीलाका शान्त उत्तर था।

'डाक्टर साहब तो तीन टेम फलका रस देनेको कहा है मालकिन...'

'जा अपना काम कर......एक बार कह दिया, नहीं पीऊँगी तो जान क्यों खाती है ?'

नहीं...आजसे वह फलोंका रस नहीं लेगी—क़ीमती कपड़े-गहने नहीं पहनेगी। वह अपनेको आनेवाले समयके लिए तैयार करेगी।

जानकी अच्छी औरत है। उससे बहुत स्नेह करती है। उसके स्नेहमें कृत्रिमता नहीं है। सहज स्वाभाविक नारी-सुलभ कोमलता है। जानकीने एक दिन अपना जीवन-इतिहास सुनाया था। सुनकर उसे आश्चर्य हुआ था। उसने अपने पहले पतिको छोड़ दिया था। दूसरा पति किया था और इस पतिसे दो बच्चे थे। वह बोली थी—'दईमारा मुझे पीटता था......गालियाँ बकता था।'

जानकीकी बातें सुनकर शीलाको थोड़ा आश्चर्य हुआ था। इस अपढ़ और छोटी कही जानेवाली औरतमें स्वाभिमानकी कितनी तीव्र आकांक्षा है। और वह ?...

उसका जीवन तो एक गुड़ियाके समान है। पुरुष उसे सजाता है, दुलारता है और ऊब जाने पर लातसे ठोकर भी मार देता है। वह निर्जीव गुड़ियाके समान सब सहती है। कोई प्रतिरोध नहीं, कोई शब्द नहीं—चुपचाप गुड़िया बनी पड़ी रहो।...नहीं, अब वह गुड़िया बनकर पड़ी नहीं रह सकती। अब वह उठेगी और स्वाभिमानसे सिर ऊँचा

उठायेगी। वह किसीकी कदर्य प्यासकी तलछट होकर नहीं रहेगी। उसकी साँसोंमें भी जीवन है, उसके हृदयमें भी एक स्नेहाकांक्षीकी कामनाएँ हैं...उसकी भावनाएँ भी जवान हैं—वे मरी नहीं, बुझी नहीं। वह क्यों बुझने दे ?

शीलाके चेहरेपर तनाव आ गया था। तर्कपर तर्क सिर उठा रहे थे। बुद्धिकी तीक्ष्णतामें सारे रूढ़िग्रस्त संस्कार कट-कटकर जैसे भूमिसात् हो रहे थे।

सुधीर जब गाड़ीपर सवार हुआ उस समय उसका सिर चक्कर खा रहा था। गाड़ी खुली, हवाका एक झोंका आया और फर्स्ट क्लासके कंपार्टमेंटके एक कोनेमें बैठा सुधीर अपनेको प्रकृतिस्थ कर रहा था। ऐसा लग रहा था जैसे कोई भयावना सपना देखकर वह उठा है। घटनाओं-पर विश्वास करनेका बल वह अपनेमें नहीं पा रहा था।

जीवनका चक्र जैसे एक भूलभुलैया हो। हर क्षण अपने साथ एक अतीत ले जाता है और आनेवाला क्षण आशाकी प्रतीक्षा करता है। चिरन्तन कालसे मानव-मन कुहेलिकामें ऐसे ही ताने-बाने बुनता आया है। कालकी काली छायासे मनके भीतरका अंधकार अधिक डरावना लगा है।

सुधीरके मनमें भी यह कैसा घोर अंधकार छा गया है? कंठ सूखता-सा लगा। प्यार......तृष्णा......सारा जीवन, क्या भाग्यके पीछे मरीचिकाकी खोजमें ही निष्फल बीत जायगा? प्यार और स्नेहकी एक बूँद भी नहीं मिली। धधकते रेगिस्तानकी तरह ही यह संतप्त जीवन है। आदर्शोंका मेल नहीं—बुद्धि भावनाके ज्वारमें बह जाती है।

पर क्या वह आगसे खेलने नहीं गया था? आगसे खेलोगे तो और क्या होगा? हाथ जलेंगे—फफोले उठेंगे और फिर अहर्निश टीस—पका हुआ फोड़ा। अपने तो जलोगे ही, खेलनेवाले साथीको भी झुलसा मारोगे। सुधीरने यही तो किया है। उसने सीमाका उल्लंघन किया है। समाजकी लक्ष्मण-रेखासे निकलकर उसने एक ऐसी लड़कीसे प्यार किया जिसकी माँगमें सिन्दूर है, पैरोंमें सुहागके नुपूर हैं। अपनी दुर्बलतापर यदि वह काबू पा जाता तो फिर यह नौबत ही क्यों आती? शीलाके मनमें चिनगारी सुलगाकर वह कायरकी तरह भाग आया। बेचारी शीला! उस चिनगारीसे वह स्वयं जलकर राख हो जायगी।

गाड़ी भागी जा रही थी। सैकड़ों यात्रियोंको लादे यन्त्र-युगका लौह-पुरुष भागा जा रहा था। विभिन्न प्रकारके लोग थे—विभिन्न आकांक्षाएँ थीं। एक नवविवाहित दम्पति भी सुधीरके कंपार्टमेंटमें बैठे थे। युवतीके पैरोंमें महावर था। गोरे सुन्दर पैरोंमें महावर बड़ा फब रहा था। युवती सुन्दर थी और उसकी बड़ी फैली आँखोंमें भविष्यका सपना लहरा रहा था। युवक धोती और कुरता पहने था। रह-रह कर बंगलामें वे बातें करते थे। शायद कलकत्ता जा रहे थे। अच्छी जोड़ी थी।

सुधीरके मनपर एक उदासी छा गई। संभवतः यह मानव-मनकी सहज प्रतिक्रिया थी। अपना अभाव याद आते ही अवचेतन मनके लोकमें उदासीकी लहर फैल गई। तुलनात्मक चेतना मानो एक कंकड़ है और अवचेतन मनके स्थिर जलमें पड़कर वह लहरें विकीर्ण करता है।...उसका जीवन कितना सूना है। एक भी ऐसा साथी नहीं जिससे वह मन खोलकर बातें कर सके, एक भी ऐसा मीत नहीं जिसके सम्मुख वह अपने मनका द्वार खोल दे।

...लड़कीकी खिलखिलाहटने चौंका दिया। शायद युवकने कोई ऐसी बात कही जिससे सुहागिनीकी हँसी 'सरगम' की तरह ध्वनित हो उठी।...सुधीरने लड़कीकी तरफ़ देखा। चेहरा मासूम और प्यारा था। ऐसे चेहरे परिचितसे लगते हैं। पहली झलकमें ही लगता है जैसे यह चेहरा जाना पहचाना है। पता नहीं, ऐसी अनुभूति क्यों होती है?... लड़कीमें सौन्दर्य है, दीप्ति है पर साथ ही सौन्दर्य-गर्वकी वह अभिव्यक्ति नहीं है जिसके कारण सुन्दर चेहरे भी आकर्षण-हीन लगते हैं।

सुधीरने शिष्टाचारके नाते आँखें फेर लीं। 'घूरना' उसकी प्रकृतिमें नहीं, पर साथ ही सौन्दर्यको देखे बिना जी नहीं मानता।...अब उसका भविष्य क्या होगा? शंकरलालजीसे व्यापार सम्बन्ध तोड़ना ही होगा। अपना कारबार नये सिरेसे प्रारम्भ करना होगा। और शीला?... इस दुःखद अध्यायको भूल जाना होगा। यह उसके जीवनकी सबसे बड़ी भूल थी। पिछले कुछ दिन उसने बड़ी बेचैनीमें काटे हैं। सारी घटनाएँ दुःस्वप्न-सी लगती हैं।...माथेकी नस दुखने लगती है। सोचनेकी प्रक्रियामें ही वेदना-मिश्रित अनुभूति होती है। वह दुःखी है इसलिए कि वह सोचता है, विवेककी लगाम उसके हाथसे नहीं छूटती। अन्यथा पाप-पुण्य, सत्-असत्का तर्क आता ही कहाँ है?

आसमानमें असमय मेघ छा गये थे। ग्रीष्मका राज्य अभी समाप्त नहीं हुआ था—पर चोरी-छिपे मेघ आसमानमें आ गये। वर्षाके अग्रिम दूत और गुप्तचरके रूपमें वे सतर्क प्रतीत होते थे। हवाकी साँसोंमें उष्णता नहीं थी। गाड़ी भागी जा रही थी......खेत-खलिहान, झोपड़ियाँ, नदी, नाले, परती, बंजर, शहर, देहात सभीका अतिक्रमणकर। खिड़कीके बाहर सिर निकालकर सुधीरने देखा—कुबड़ी, श्रीहीन मिट्टी और फूसके घरोंका समूह यह भारतीय ग्राम। काले, सूखे बच्चे—अथाह ग़रीबी और भूखसे सताया भारतीय किसान जिसके जीवनका एक मात्र

लक्ष्य है–पेटके लिए अन्न जुटाना। इनकी निस्तेज आँखोंमें सदियोंकी भूख झाँकती है। भूख...भूख...भूख...। स्वाधीन भारतकी सबसे बड़ी सफलता तभी सिद्ध होगी जब भूख और अज्ञानके स्थानपर तृप्ति और ज्ञानकी छाया इन आँखोंमें देखनेको मिलेगी।

सुधीरने सोचा—यदि उसे इस प्रकारका जीवन बिताना पड़े? मन सिहर उठा। क्या उसका दुःख इतना बड़ा है कि वह भूखसे ऊपर उठ जाय? भूखसे बड़ा कोई दुःख नहीं, ग़रीबीसे बड़ा कोई अभिशाप नहीं।......उसे अपने-आपको दुःखी और भाग्यहीन माननेका क्या अधिकार है? अभी उसके बैङ्क-बैलेन्समें पचास हज़ार रुपये हैं–रहनेको अच्छा फ्लैट है—सवारीके लिए 'कार' है और वह पैसोंके बलपर अनेक भौतिक सुख खरीद सकता है...।

पैसोंका बल बड़ा बल होता है। पैसोंकी मार बड़ी मार होती है। पैसोंकी मारमें ही तो शीला बिक गई।

बिक गई......

रिश्ते बिकते हैं, पैसोंमें पति मिलता है, पैसोंमें नारीका मन बिकता है, तन बिकता है और...।

माथेकी नस दुखने लगती है। घूम-फिरकर यह शीला क्यों आ जाती है? मनसे निकाल देनेपर भी यह नाम शायद नहीं निकलेगा। अजीब है यह मनकी दुनिया। मनोविज्ञान-वेत्ता कहते हैं कि अप्रिय घटनाओंको हम जल्द भूल जाते हैं। पर मनका सागर शायद अनन्त है और मनो-वेत्ता समुद्र-तलके कंकड़ ही अभी चुन पाये हैं। सम्पूर्ण सत्यकी उपलब्धि अभी हुई कहाँ है?...

दूसरे दिन सुधीर कलकत्तेमें था।

कहते हैं कि समय सबसे बड़ा छलिया होता है। उस घटनाके बाद प्रायः दो हफ़्ते तक शीला उद्विग्न रही, पर धीरे-धीरे उसने अपने मनको संयत कर लिया। एक दिन जब लेडी डाक्टरने बताया कि उसके पेटमें दो मासका गर्भ है और वह माँ बननेवाली है तो जैसे चौंक गई। मन उसका भारी रहता था, स्वाद भी बदला-सा लगता था—पर यह सब उसने मानसिक थकानके लक्षण समझ लिये थे। वह माँ बननेवाली है'''इस समाचारने उसे चौंका दिया। वह हँसे या रोये—यह समझ नहीं पाई।

शीला और भी अन्तर्मुख हो गई। इसके लिए शायद वह तत्पर नहीं थी। पर भीतर जाने एक कोना भरता-सा लगा। 'नारीत्वकी पूर्णता मातृत्वमें है' यह वाक्य बहुत बार सुननेको मिला था। तो क्या वह इसी पूर्णताकी ओर बढ़ रही है? अनजाने, अपरिचित शिशुके लिए उसके मनमें इतना ममत्व कहाँसे आ गया?

शङ्करलालजीका रुख भी बदल गया। लेडी डाक्टरने जब यह समाचार उन्हें दिया तो एक सिहरन उनके शरीरमें दौड़ गई। शायद मनके भीतर कोई 'पिता' छिपा था—वह धीरे-धीरे अपना परिचय देने लगा। परिचारिकाओंकी संख्यामें वृद्धि कर दी गई। हर तीसरे रोज़ लेडी डाक्टर आकर हाल-चाल पूछ जाती। परिचारिकाओंकी ड्यूटी बाँध दी गई। मालकिनको एक पलके लिए भी अकेले नहीं रहना पड़े, ऐसी व्यवस्था कर दी गई।

शीला नियतिके परिहासपर मुसकराती। वह आत्महत्याकी बात सोच रही थी——अब तो दो जीवनकी रक्षा करनेका भार उसने ले लिया।

शंकरलालजीके चेहरेका तनाव चिकनाहटके रूपमें बदल गया। अब उनके मुखपर सन्तोष और उदारताकी सारगर्भित अभिव्यक्ति मिलती। वे ऐसा भान करते जैसे पिछले दिनोंमें कुछ हुआ ही न हो। पहलेकी तरह वह खुल नहीं पाये थे, पर बहुत कुछ संकोच उन्होंने उतार दिया था।

पर जाने क्यों शीला उन्हें देखकर सख़्त हो जाती। उसके दिलमें कुछ कचोटता और जाने कहाँकी घृणा भावनाको आ दबोचती। और तब बड़ी तकलीफ़ होती। पेटके भीतर इसी व्यक्तिका माँस-पिंड पनप रहा है...पतिके चिकने मुखपर वह वही अभिव्यक्ति पाती जो हिंसक कसाईके चेहरेपर अपनी मोटी-ताजी बकरीको देखकर आती है।...और तब एकाएक पागल-भावना आती—काश, मैं इसके बच्चेकी माँ नहीं बनती। दूसरे ही क्षण अपनी अनाहूत सन्तानके लिए ममताका स्रोत फूट पड़ता...इसमें आनेवालेका क्या दोष? उसे माँकी ममता क्यों न मिले......?

और फिर कल्पनाओंका इन्द्र-धनुष मानस-पटपर फैल जाता। पलंग पर लेटी, आँखें मूँदें वह कल्पना-लोकमें खो जाती।

सुन्दर, सलोना-सा, नन्हा बेटा। दूधकी सोंधी गन्धमें भींगी माँ। नन्हे-नन्हे हाथ-पैर। वह किलकारियाँ मारेगा। माँ लोरी गायेगी। कौन-सी लोरी गा रही है माँ? बचपनकी सुनी हुई वह प्यारी लोरी—

आजा निंदिया, आजा तेरी हेरूँ बाट,
सोने के हैं पाये जिसके, रूपेकी है खाट।

मखमलका है लाल बिछौना, तकिया झालरदार...
एक लाख हैं मोती जिसमें लटके लाल हजार।

मुन्नूके आयें चार बहुयें,
दो गोरी, दो काली।
दो झुलायें, दो खिलायें।
ले सोनेकी थाली.........

नन्हा हाथ-पैर फेंकता हुआ सो जायगा—लोरीकी लय मद्धिम पड़ती जायगी। राजा-बेटाके सोनेपर वह एकटक अपने सोते लालको निरखेगी! फड़फड़ाते हुए अधर, मीठी-सी हल्की-सी मुसकान।

लाल बड़ा होगा। स्कूल जायगा। कालेज जायगा। बड़ा अफ़सर बनेगा। चाँद-सी बहू लायेगा। तब वह बुढ़िया हो जायगी। उसके केश सफ़ेद हो जायेंगे और वह दादी होकर पोतेकी भीख भगवान्से माँगेगी...और फिर......

कल्पना टूट जाती है। उसके बाद काला पर्दा गिरता है। नाटक का अन्तिम दृश्य। मृत्युका सागर लहराता है और वह मौतकी गोदमें अपनी आँखें मूँद लेगी।

...जीवनका कैनवस यही तो है। इसीपर चाहे जैसे चित्र बना लो—इस सीमित पटपर चाहे जैसे रंग भर दो...लाल, पीले, चितकबरे, सफ़ेद, स्याह...यह सारा ताना-बाना, यह हँसी-रुदन, यह पाना-खोना सभी नाटकके पूर्व अङ्क हैं। अन्तिम अङ्क है—मृत्यु, जहाँ अखण्ड शान्ति है—अटूट नींद है और जहाँ जीवन टकराकर मृत्युकी लहरोंमें विलीन हो जाता है।

मृत्यु...

मृत्युकी बात अब उसे नहीं सोचनी चाहिए। अब तो वह जीवनके गीत गायेगी—जहाँ धड़कन है, कोलाहल है, रव है, लय है, गूँज है और अनवरत प्यास है—जीनेकी, पीनेकी, भोगने की। तटपर रुदन,

घुटन, कसक, अभाव सभी छोड़ देना होगा क्योंकि ये मृत्यु-पथके पाथेय है।

शीला सपनोंके ताने-बाने बुनती। बच्चेकी कल्पनामें बड़ा सुख मिलता। मन भटकता हुआ कभी सुधीरकी स्मृतिपर जा टिकता—पर, वह अपनेको झकझोर देती। नहीं...यह उसका पथ अब नहीं है। अब तो वह माँ बनेगी। उसने आकाश-कुसुमको पानेका प्रयत्न किया था। आकाश-कुसुम कभी पकड़में आता है? सुधीरका अस्तित्व उसके जीवनमें कभी नहीं रहा, कभी नहीं रहना चाहिए। अनैतिक, अवांछित कामना यदि सफल हो जाय तो समाजका सारा ढाँचा ही टूट जायगा। विवाहकी प्रथा चलानेवाला समाज तो दूरदर्शी रहा होगा। अन्यथा कामनाको असंख्य पर लग जाते। संयम और त्यागकी फिर महत्ता क्या रहती...?

"बहूजी, यह चिट्ठी आई है" जानकीका स्वर था। प्रमिलाकी चिट्ठी थी—

दीदी,

तुम्हें दो पत्र भेजे, तुमने एकका भी उत्तर नहीं दिया। तुम इतनी नाराज़ होगी, इसका मुझे पता न था। परदेशमें हूँ—मुसीबतमें हूँ। सहानुभूतिके दो अक्षर अगर भेज देती तो हमें कितना बल मिलता!

'उन्हें' अब तक ढंगकी कोई नौकरी नहीं मिली। एक प्रेसमें अनुवादका काम करते हैं। रातकी ड्यूटी रहती है और फिर तनख़्वाह सिर्फ़ ६०) रुपये। तीस तो मकानका किराया निकल जाता है। बाक़ी तीसमें कलकत्ता-जैसे शहरमें दो प्राणियोंका गुज़र कैसे चल सकता है? फिर भी उनके चेहरेपर शिकन नहीं। कहते हैं—यह तो शुरूआत है। आगे दिन अच्छे आयेंगे। सारा काम अपने हाथसे करती हूँ। धोबीको कपड़े

नहीं देती, बर्तन धोनेके लिए महरी भी नहीं है। वे स्वयं नलसे पानी ले आते हैं।...पर दीदी, सूखी रोटियाँ खाकर भी मनमें इस बातका सन्तोष है कि हमने आत्माकी पुकारपर यह सब किया है। तुम्हें यह जानकर ख़ुशी होगी कि मैं टाइपिङ्ग भी सीख रही हूँ। बिना टाइपिङ्ग जाने यहाँ आसानीसे नौकरी नहीं मिलती। सोचती हूँ—सीखकर उनका बोझ कुछ हल्का करूँ। तुम तो अपना हाल-चाल कुछ लिखती ही नहीं। माना कि रानी बन गई हो, पर क्या कोई अपनी सहोदरा ग़रीब बहन को इस तरह भुला देती है!

मेरी अच्छी दीदी—पोस्टकार्डपर सिर्फ़ अपना हस्ताक्षर कर भेज दो। मैं उसे ही पाकर अहोभाग्य मानूँगी।

तुम्हारी,
प्रमि

पत्र पढ़कर शीला गुमसुम बैठी रही। जाने एक कैसी कचोट उठी। काश, वह भी ऐसी सूखी रोटियाँ पा सकती। बहुत देर तक गुमसुम बैठी रही। धीरे-धीरे साँझ धरतीपर झुक आई। बिजलीकी बत्तियाँ जगमगाने लगीं। पासके बङ्गलेमें रेडियोपर कोई दर्दभरा संगीत हवामें गूँजने लगा...

दर्द भरा गीत...'न आया मनका मीत उमरिया बीत गई सारी।'...मनका मीत नहीं आया। प्रतीक्षामें जाने कितने क्षण, दिवस, वर्ष बीत गये पर आनेवाला नहीं आया। प्रतीक्षाकी घुटनसे हारा-थका मन जैसे टूट पड़ता है—'न आया मनका मीत।'

शीलाके मनका मीत कहाँ है?—कहीं नहीं। कोई नहीं। उसके मन का मीत ही कहाँ मिला जिसकी प्रतीक्षा वह करती?...टप-टप आँसू चूते

हैं। आँसू क्यों निकलते हैं भला? अनाहूत, ये असंयमित आँसू? साड़ीके आँचलसे आँसू पोंछ डाला।

...याद आता है मीराका वह भजन जिसे पढ़कर उसकी आँखें इसी तरह गीली हो गई थीं—

मोरे जनम-मरणके साथी
तोहे ना बिसरूँ दिन राती।...

दीवानी मीरा अपने जनम-मरणके साथीके पीछे आत्म-विभोर थी। उसकी खोजमें वह कहाँ नहीं भटकी? कैसा 'दरद' था उसका जिसे कोई नहीं जान सका?...

शीला मुँह धोनेके लिए बेसिनके पास गई। आइनेमें चेहरा देखा। करुणाकी एक स्निग्ध छाप उसपर उतर आई थी। मुँह धोकर वह राइटिङ्ग टेबुलके पास जा बैठी। प्रमिलाको वह अभी ही पत्र लिखेगी।

अपने बारेमें वह क्या लिखे? वह लिखना बहुत कुछ चाहती थी। मनमें जाने कितनी बातें घुमड़ रही थीं। पर कलम पकड़ते ही जैसे वे सारी भावनाएँ जड़ बन गईं। लिखा, काटा और नीचे टोकरीमें फेंक दिया। क्या वह लिखे कि वह बहुत सुखी है और उसे 'रानी' बन जाने पर किसी चीज़का अभाव नहीं रहा! झूठ उससे नहीं लिखा जा रहा था। सच वह लिखना नहीं चाहती थी। काफ़ी समय इसी उधेड़-बुनमें निकल गया। अन्तिम बार उसने सिर्फ़ छः पंक्तियोंका एक छोटा-सा पत्र लिखा। लिखकर उसे पढ़ा, दुबारा पढ़ा फिर लिफाफेमें बन्दकर, टिकट लगाकर पता लिख दिया। जानकीको पुकारकर बोली, "इसे अभी पासके लेटर-बाक्समें छोड़ आओ।"

जानकीने हैरानीसे पूछा—"अभी बहूजी?"

शीला जैसे चीख़कर बोली—"जो कहती हूँ वह किया कर।"

जानकी सकपकाकर चिट्ठी लिये आगे बढ़ गई।

तीसरे दिन वह चिट्ठी प्रमिलाके हाथमें थी ।

"प्रमि,

बहुत दिनोंसे लिखना चाहकर भी मैं तुम्हे पत्र नहीं लिख सकी। तुमने जो किया, उसके लिए मैं तुम्हें बधाई दे सकती हूँ। रानी बनकर भी कोई अभागिन रह जाती है और अभावके बीच भी कोई सुखी रह सकती है। नियतिका व्यंग्य कभी बड़ा मँहगा पड़ता है।

एक ख़बर दे दूँ। तुम्हारे जीजाजी पिता बननेवाले हैं।

तुम्हारी
शीला

प्रमिलाने पत्रको कई बार पढ़ा। प्रमिला रहस्यवादकी भाषापर कम विश्वास करती आई है। वह समझ नहीं पाई कि शीलाने ऐसा और इतना संक्षिप्त पत्र क्यों लिखा?...

प्रमिला वैसी लड़कियोंमें थी जिसे हम 'दबङ्ग' टाइप कहते हैं। बिना झिझक वह रेडियोके नाटकोंमें भाग लेती थी। बिना झिझक प्रेमिकाके डायलग इस अदासे बोल सकती थी कि सुननेवालेकी तबियत फड़क उठती थी। खेलोंमें उसकी रुचि थी—बैडमिन्टनका रैकेट इस प्रकार पकड़ती थी मानो वह देशकी चैम्पियन है।

जगदीशके प्रति जब उसके मनमें आकर्षण हुआ तो उसने प्रण कर लिया—यही उसका पति होगा। जगदीशके साथ जब वह महानगरी कलकत्तेमें आई, उस समय भी हार और थकानकी कोई शिकन उसके चेहरेपर नहीं थी—बल्कि भविष्यको अपने अनुरूप गढ़नेका दृढ़ संकल्प

था। वह बाधाओंसे जूझेगी, आपत्तियोंसे लड़ेगी पर झुकेगी नहीं। जगदीश नौकरीकी तलाशमें हारा, थका, उदास घर लौटकर कहता—"आज भी कहीं नौकरी नहीं मिली।"

प्रमिला मृदु स्वरमें कहती—"इतने ही में हिम्मत हार गये! नौकरी तो मिलेगी ही। हमें आशा नहीं छोड़नी है।"

एक दिन जब जगदीशने आकर ख़बर सुनाई—"अख़बारके दफ्तरमें सहायक सम्पादककी जगह मिल रही है पर..."

"पर...क्या?"

"पर वेतन बहुत थोड़ा है और रातकी ड्यूटी करनी होगी।"

"कितना मिलेगा?"

"सिर्फ़ साठ रुपये।"

प्रमिला कुछ क्षणों तक सोचती रही, फिर बोली—"नौकरी स्वीकार कर लो।"

"साठ रुपयेमें क्या बनेगा?" जगदीशने प्रतिवाद किया।

"अभी तो साठ पैसे भी नहीं मिलते। कमसे कम किराया और दो सूखी रोटियोंका प्रबन्ध तो हो जायगा।"

रातकी ड्यूटीसे उनींदा, थका जगदीश लौटता। उसके ओठोंकी स्वाभाविक मुसकान गायब हो गई थी।

प्रमिला हँसकर कहती—"तुम तो हिम्मत हार रहे हो।"

जगदीश कहता—"रात भर टेलिप्रिन्टर और प्रेसकी धड़धड़ाहटके बीच बैठकर अंग्रेज़ीसे हिन्दी अनुवाद करना पड़ता है।"

"तो क्या हुआ, और लोग भी तो करते होंगे।"

"ग्रेजुएट होकर मैं सिर्फ़ दो रुपये रोज़ कमाता हूँ। हमसे तो अच्छे कुली-मज़दूर होंगे।"

प्रमिला पतिके घने बालोंमें अंगुलियाँ फेरकर कहती—"जी छोटा न करो। जब तुम ही जी छोटा कर लोगे तो मेरा क्या होगा ?"

जगदीश निरुपाय-सा दीखता।

प्रमिला बोली—"एक बात कहूँ ?"

जगदीश चुप रहा।

"कलसे मैं टाइपिंग सीखूँगी। पड़ोसकी रमा बनर्जी नामकी जो लड़की है न, उसे ६०) रुपये तनख्वाह मिलती है। थर्ड डिवीज़नमें उसने मैट्रिक किया है। मुझे तो सेकेंड डिवीजन मिला है।"

जगदीशने आँखें उठाईं। उनमें किंचित् विस्मयका भाव था—"तुम नौकरी करोगी ?"

"आजकल तो अधिकांश पढ़ी-लिखी लड़कियाँ नौकरी करती हैं। संकोचकी क्या बात है ? परिश्रमकर पैसे कमाना कोई गुनाह नहीं।"

पतिसे स्वीकृति लेकर वह रोज़ दिनमें टाइपिंग सीखने जाने लगी। रमा बनर्जीने बाक़ी सहूलियतें कर दीं। जगदीशको खाना खिलाकर, बर्तन इत्यादि धोकर वह 'टाइपिंग इन्स्टीच्यूट' चली जाती। जगदीश भर दिन सोता रहता। सोकर वह रातकी ड्यूटीके लिए अपनेको तैयार करता। चार बजे तक प्रमिला लौट आती। बाज़ारसे वह सामान खुद खरीदकर लाती। जगदीश 'खानेका पैकेट' लेकर शाम होते ही दफ्तरके लिए निकल पड़ता। दफ्तर एक मील दूर था।

इसी तरह नवीन दम्पतिके जीवन कट रहे थे। समाजने पति-पत्नीकी मुहर इनपर नहीं लगाई थी—पर आत्माकी मुहर तो प्रत्यक्ष थी !

प्रमिला अपनी रानी बहनका पत्र पाकर विचार-मग्न हो गई।

सुधीर चार-पाँच दिनमें बिलकुल स्वस्थ हो गया और उसने भविष्य

की योजनाएँ बनाईं। पहला पत्र उसने शंकरलालजीको लिखा जिसमें मात्र इस बातका उल्लेख था कि उनकी साझेदारीमें अब वह काम नहीं कर सकेगा।

इसके बाद एक सप्ताह यों ही बीत गया। वितरणके कार्यमें सुधीर की प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई थी। लाला दीपकचन्दजीको जब यह बात मालूम हुई कि सुधीरने अपने पहले पार्टनरके साथ काम करना छोड़ दिया है वे स्वयं अपनी 'बुइक' में चढ़कर सुधीरसे मिलने आये। परिचय तो पहलेसे ही था—पर पूर्व-परिचयमें व्यावसायिक प्रतिद्वन्द्विता की भावना थी। अब लाला दीपकचन्द खुले दिलसे मिलने आये थे।

लाला दीपकचन्द इस क्षेत्रके लिए नये नहीं थे। फिल्मोंका 'बिजनेस' वे 'साइलेंट' ज़माने से करते आये थे। भाग्यके धनी थे। एक साधारण स्थितिसे ऊपर उठते-उठते आज देशके एक प्रसिद्ध वितरक बन गये थे। इस व्यवसायमें उनके कई लाख रुपये लगे हुए थे।

सुधीरने कहा—"लालाजी, मैं इस लाइनमें अब काम करना नहीं चाहता।"

"क्यों?" लालाजीने चौंककर पूछा।

"जनताको अफीम पिलाकर हम पैसा बटोरते हैं।"

लालाजी हो-हो कर ज़ोरोंसे हँस पड़े। बोले—"मैं नहीं जानता था कि आप अच्छे अभिनेता भी हैं।"

"मैं गंभीरतासे यह बात आपसे कह रहा हूँ। आप ही सोचिये—हम देश और समाजकी कितनी भलाई कर रहे हैं?"

"हम तो जनताको मनोरंजन देते हैं। सस्ते दामपर क़ीमती मनोरंजन।" लालाजीके स्वरमें अनुभव बोल रहा था—"और फिर यह व्यवसाय देशके बड़े व्यवसायोंमें एक है। हम तो व्यापारी हैं।"

सुधीरको याद आया कि वह भी तो ऐसे ही तर्कोंका सहारा लेता रहा है।

लालाजी बोले—"आप सोच लीजिये सुधीर बाबू। हम एक हज़ार रुपया महीना आपको दे सकते हैं और अगर चाहेंगे तो कमीशनके ढंग पर भी आप काम कर सकते हैं।"

सुधीरने कहा—"मुझे खेद है कि मैं इस धंधेमें अब समय नहीं लगाना चाहता।"

लालाजी निराश-से लौट गये। पर सुधीरकी दृढ़ताका उनपर गहरा असर हुआ। फिल्मका धंधा इधर मन्दा जा रहा था और फिर ढंगके आदमी उनके पास नहीं रहे। लालाजीकी सेहत भी इधर ख़राब रहती थी और वे पूरा समय अपने व्यवसायमें नहीं दे पाते थे। जिस आदमी पर भरोसाकर उन्होंने काम सौंपा था, उसकी नीयत ख़राब हो गई और उसने हज़ारों रुपयेका घाटा करा दिया। तबसे वे इसी चिन्तामें थे कि कोई अनुभवी विश्वासी आदमी यह बोझ उनसे ले ले। भगवान्ने उन्हें दो बेटियाँ दी थीं—बड़ी लड़की रत्ना और छोटी मधु। रत्ना एम० ए० पासकर विलायत जानेको सोच रही थी। मधु स्कूलमें थी। पत्नी पर-साल लालाजीको अकेला छोड़ गंगा-लाभ कर गई थीं। लालाजीको हृदय-रोग था और रह-रहकर उनकी हालत बिगड़ जाती थी।

लालाजीने चायके टेबुलपर अपनी बेटी रत्नाको ये बातें बताईं। रत्नाने आँखोंमें विस्मय भरकर पूछा—"एक हज़ार रुपये महीनेकी नौकरी वह सिर्फ़ इसलिए ठुकराता है कि वह इस धंधेको नापसन्द करता है। मैं कल स्वयं उसके पास जाऊँगी। देखूँगी कि वह हठी आदमी कैसा है?"

दूसरे दिन 'बुइक' कार फिर सुधीरके फ्लैटके सामने जा खड़ी हुई। रत्ना स्वयं ड्राइव कर आई थी।

बुलानेवाली घंटी बजनेपर सुधीर बाहर निकला। एक फैशनेबल लड़कीको अपने फ्लैटके सम्मुख पाकर बोला—"आप किससे मिलना चाहती हैं?"

"जी, सुधीरकुमारजी यहीं रहते हैं न?"

"जी हाँ, मेरा ही नाम सुधीरकुमार है। मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?"

"क्या मैं अन्दर आ सकती हूँ? बाहर खड़े-खड़े सभी बातें नहीं बतलाई जा सकतीं।"

"हाँ हाँ, पधारिये..." थोड़ा विव्रत होकर सुधीर आगन्तुकाको भीतर ले गया।

सोफेपर बैठती हुई वह बोली—"मेरा नाम रत्ना है। मैं लाला दीपकचन्दकी लड़की हूँ।"

"आपसे मिलकर बड़ी खुशी हुई।" शिष्टाचारके शब्द अनायास सुधीरके मुँहसे निकले।

कुछ क्षणों तक रत्ना चुप रही। फिर बोली—"आप फिल्म बिजनेसमें काम नहीं करना चाहते, यह बात मैंने पिताजीसे सुनी है। क्या मैं कारण जान सकती हूँ?"

"कारण मैंने आपके पिताजीको बतला दिया है।" सुधीरने संयत होकर उत्तर दिया।

"पर इसमें बुराई क्या है?"

"तो अच्छाई ही क्या है?" सुधीरने मुसकराकर उत्तर दिया।

"अच्छाई यह है कि इस बिजनेसमें पैसा अच्छा मिलता है—आप तो इसमें रह चुके हैं—अच्छाईसे तो परिचित होंगे।" रत्ना मज़ाकके लहज़ेमें बोली।

"मैं रह चुका हूँ, इसीलिए तो बुराईसे भी परिचित हूँ।" सुधीरका स्वर शान्त था।

"यह तो दृष्टिकोणकी बात है। आप कपड़ेकी मिल खोल लीजिये—या मोटरकी दूकान खोल लीजिये—व्यवसायका एक ही लक्ष्य है—मुनाफ़ा। फ़िल्म भी एक व्यवसाय है और इसका ध्येय मुनाफ़ा है। इसमें असङ्गति क्या है?" रत्नाने अपने 'बाब्ड हेयर' हिलाकर पूछा।

"तर्क आपका ठीक है। पर तर्कसे एक ऊँची वस्तु है—भावना। भावनाका व्यवसाय नहीं किया जाता।"

"किया जाता है।" रत्ना हँसकर बोली—"फिल्ममें भावनाएँ रहती हैं और हम उनका व्यवसाय करते हैं।"

पता नहीं रत्नामें क्या 'कुछ' था जिसके कारण सुधीर उसके तर्कको काट नहीं पाया। रत्नाकी ओर आँखें उठाकर पहली बार देखा—रूपवती युवती है—मृणाल-सी गोरी भुजाएँ सङ्गमरमरकी बनी लगती हैं।

"आप मेरा एक अनुरोध मानियेगा?"

सुधीर चुप रहा।

"क्या आप कल इसी समय मेरे यहाँ चाय पीने आयेंगे?"

अनुरोध ऐसा था कि अधिक सोचनेका अवसर नहीं था। बोला—"आऊँगा।"

"आपका मेरी झोपड़ीका पता तो है?" रत्नाने मुसकराकर पूछा।

सुधीरको रत्नाकी बातपर हँसी आ गई। बोला—"ऐसी झोपड़ियाँ कलकत्तेमें कम हैं, इसलिए पहुँचनेमें कोई दिक़्क़त नहीं होगी।"

रत्ना कारमें जा बैठी। स्टार्ट करनेके पहले उसने एक बार सुधीरकी ओर मुड़कर देखा—देखा तो सुधीरकी आँखोंसे दृष्टि टकरा गई। क्षणभरकी टकराहट। उस टकराहटकी भाषा विचित्र थी। वह पढ़ी नहीं जाती—मात्र अनुभूत की जा सकती है। सुधीर ठिठका-सा रह गया। रत्ना अपने

रेशमसे ख़ूबसूरत 'बाब्ड बाल' छिटकाकर कार सहित आँखोंसे ओझल हो गई।

कुछ क्षणों तक सुधीर उस ओर निरर्थक रूपसे देखता रहा।...फिर अपनी भावुकतापर लज्जा आने लगी। ...नारीका आकर्षण क्या इतना सम्मोहक है—चुम्बककी तरह अपनी ओर खींच लेनेवाला! दो क्षणकी भेंट मनको इस तरह आन्दोलित कर जाती है...शीलाके साथ भी तो ऐसा ही हुआ था... कुछ दिनोंका परिचय जन्म-जन्मान्तरका परिचय लगता है।

ऐसा क्यों होता है? क्या यह दो युवा हृदयोंकी स्वाभाविक अनुरक्ति है?...यह कैसा जादू है जो तन-मनको अवसन्न बना जाता है।

सुधीरको उस रात अच्छी नींद नहीं आई। शीला और रत्नाकी तस्वीरें मानस-पटपर टकराती रहीं।

दूसरे दिन संध्याको वह लाला दीपकचन्दके ड्राइङ्ग रूममें था। ड्राइंग रूममें क़ीमती कालीन बिछा था—आठ-दस बड़े-बड़े मखमली सोफा थे। दीवारपर कलात्मक चित्र थे—चित्र प्रतीकात्मक थे और पिकासो शैलीके अनुकरण लगते थे। चित्रकी ओर सुधीरको ग़ौरसे देखते दीपकचन्द बोले—"ये चित्र रत्नाके बनाये हुए हैं?"

रत्नाने विहँसकर उत्तर दिया—"कुछ नहीं कूँची चलाना सीख रही हूँ।"

सुधीर बोला—"लगता है, बहुत दिनोंसे सीख रही हैं।"

दीपकचन्द अपनी बड़ी पकी मूँछोंमें मुसकराकर बोले—"बचपनसे ही रत्नाको संगीत और चित्रकलासे शौक़ रहा है।"

"आप संगीत भी जानती हैं?" सुधीरने ड्राइंग-रूम तक़ल्लुफ़ बनाये रखनेको पूछा।

"रोना और गाना किसे नहीं आता ?" रत्नाका उत्तर था।

लाला दीपकचन्द बोले—"रत्नाको हल्के-फुल्के गाने पसन्द नहीं। वह तो विशुद्ध शास्त्रीय संगीत पसन्द करती है। उस्ताद अल्लादिया खां से रोज़ गाना सीखती है। मेरे पल्ले तो कुछ नहीं पड़ता। भीमपलासी और मियाँकी टोड़ी मेरे लिए एक-से हैं।" कहकर वे हों-हांकर हँसने लगे मानो कोई बहुत बड़ा मज़ाक कर दिया हो।

इस बीच बेयरा चाय, फल वग़ैरह रख गया था।

रत्ना बोली—"शुरू कीजिये न सुधीर बाबू।"

सुधीरने नमकीन बिस्कुटका टुकड़ा उठाते हुए कहा—"फिल्मोंके अलावा भी आपके यहाँ कई तरहके बिजनेस होते हैं—यह मैंने सुना था।

"बिजनेस। सिर्फ़ फिल्मोंके बिजनेससे क्या होता है सुधीर जी ? ईश्वरकी दयासे एक चीनी मिल और तेल-मिल भी है। कई कम्पनियोंके शेयर हैं—आठ-दस मकान हैं। ईश्वरकी कृपासे दाल-रोटीका प्रबन्ध हो जाता है।" दीपकचन्दने विनम्र उत्तर दिया।

"दाल-रोटीका ऐसा प्रबन्ध ईश्वर सबके लिए कर दे।" सुधीरने हँसकर कहा। सुधीरके परिहाससे रत्ना खिलखिलाकर हँस पड़ी। बोली—"सुधीर बाबू, आपकी ह्यूमर सेंस जबर्दस्त है।"

फिर इधर-उधरकी बातें हुईं। राजनीति। तीसरा महायुद्ध छिड़नेकी आशंका। नेहरू सरकारकी नीति। और अन्तमें लाला दीपकचन्दने कामकी बात उठाई। बोले—"आप अगर फिल्मका काम मेरा सँभाल लें तो मैं आपका बड़ा एहसान मानूँगा। मेरी सेहत अब ऐसी नहीं कि कलकत्ता-बम्बई कर सकूँ। और फिर भगवान्‌ने बोझ सँभालनेके लिए कोई लड़का नहीं दिया। वह होता तो फिर..." लाला दीपकचन्दका

स्वर भींगा-सा लगा—"यों मेरी दोनों बेटियाँ किसी लड़केसे कम नहीं। पर लड़कियाँ तो थातीकी तरह पिताके घर रहती हैं—"

रत्नाको यह प्रसंग रुचिकर नहीं लग रहा था। बोली—"बाबूजी, आपकी इस बातसे मुझे चिढ़ है। आप कामकी बातें क्यों नहीं करते ?"

लाला दीपकचन्द जैसे सकपका-से गये। बोले—"सुधीर बाबूसे अनुरोध भर ही तो कर सकता हूँ।"

जाने क्या उस बूढ़ेके स्वरमें था कि सुधीरके भीतर कुछ पिघल गया। बोला—"कलसे मैं आपके साथ काम करूँगा।"

लाला दीपकचन्दकी आँखोंमें ख़ुशी चमक उठी। रत्नाके अधरोंपर मुसकान खेल गई। इसके थोड़े ही समय बाद सुधीर उनसे बिदा माँगकर चला गया।

दूसरे दिन सुधीर अपने कार्यमें व्यस्त हो गया। सारी पुरानी फाइलें पढ़ीं—हिसाब-किताब देखा—बक़ाया रक़मकी फिहरिस्तें पढ़ीं। नई फिल्मोंकी वितरण सम्बन्धी योजना बनाई—प्रचारके साधनोंकी छानबीन की।

महीना बीतते-बीतते व्यवसायमें नई गति आ गई। ऐसा लगा जैसे जंग लगी हुई मशीनको किसी कुशल कारीगरने ठीक-ठाककर चला दिया हो। मशीन चलने लगी थी—रुपये आने लगे थे—लाला दीपकचन्दका नाम फिल्म-जगत्में फिर चमकने लगा था।

रत्ना समय-असमय उसके कमरेमें चली आती और सुधीरके काममें दिलचस्पी लेती। कहती—"मेरी सेवाओंकी जब आपको ज़रूरत पड़े, निस्संकोच फोन कर दीजियेगा।" रत्नाकी आँखोंमें एक रस-स्निग्ध भावना तैरती रहती। उसके सान्निध्यमें एक मादक गंधकी अनुभूति सुधीरको होती। जब वह आती तो सुधीरकी शिराओंमें ख़ून

तेजीसे दौड़ता प्रतीत होता। अपनी कमज़ोरीपर उसे चोभ होता। पर जब तक रत्ना उसके समीप रहती—उसकी चेतना जैसे सुन्न हो जाती।

एकान्तके क्षणोंमें शीलाकी बड़ी याद आती। जाने रत्नाको देखकर उसे शीलाका स्मरण क्यों हो जाता था !

पर वह अतीतको भुला देना चाहता है। अतीतमें जाने कैसा कुछ कड़वापन है और फिर वह अध्याय अब समाप्त हो चुका है। शीलाको भुलाकर वह जीवनके नये पथपर आगे बढ़ा था। इस पथपर रत्ना थी। रत्ना बड़ी तेज़ लड़की थी। शीला जितनी संकोचशीला और भावुक थी, रत्ना उतनी ही चुस्त और बुद्धिवादी। वह खुलकर हँस सकती थी। हँसते ही उसके दूधके धुले मोती-से दाँत चमक उठते थे और 'बाब्ड' केश हिलने लगते थे। उसके ओठोंपर लिपस्टिक लगी रहती थी। लगता था जैसे वे लाल सुर्ख जलते हुए ओठ हों।

एक दिन मालूम हुआ कि लाला दीपकचन्दको दिलका दौरा फिर आया है और वे बिछावनपर पड़े हैं। शिष्टाचारवश सुधीर उनसे मिलने गया। सुधीरको देखते ही लालाजी विह्वल हो उठे। कुशल-समाचारके बाद सुधीर उनसे इधर-उधरकी बातें करता रहा—तसल्ली दी कि वे शीघ्र ही अच्छे हो जायँगे—उन्हें अब सांसारिक कामोंमें अपनेको नहीं थकाना चाहिए।

लाला दीपकचन्दने विह्वलतामें ही सुधीरका हाथ पकड़ लिया। बोले—"कुछ दिनोंसे मैं तुमसे एक बात करना चाहता था बेटा।"

सुधीर लाला दीपकचन्दकी कातरता देखकर चकित रह गया। लालाजी बड़े व्यवहार-कुशल आदमी समझे जाते थे।

लालाजीने कहा—"तुम मेरे बेटेके तुल्य हो सुधीर बाबू।"

"कहिये, क्या बात है ?" सांत्वनाके स्वरमें सुधीर बोला।

"बात यह है बेटा..." रुकते हुए लालाजी बोले-"मेरे मनपर एक बोझ पड़ा हुआ है-रत्नाके ब्याहका बोझ। इसमें तुम्हीं मेरी सहायता कर सकते हो।"

सुधीरने कहा-"आप निस्संकोच कहिये। मेरे लायक जो सेवा हो कहिये।"

"तो बेटा, मैं रत्नाका हाथ तुम्हारे हाथमें देकर सुखसे मरना चाहता हूँ..." लाला दीपकचन्दने एक साँसमें बात कह दी और चुप हो गये।

वातावरणमें सन्नाटा छा गया। सुधीर यह सुननेके लिए तैयार नहीं था। वह चुपचाप लालाजीको देखता रहा।

"बेटा, मुझे वचन दो...रत्नासे मैंने पूछ लिया है..."

"रत्नासे मैंने पूछ लिया है।" यह वाक्य सुधीरके मनमें गूँजने-सा लगा।

"मैं जात-पातमें विश्वास नहीं करता। मैं तुम्हारे कुलको भी नहीं जानता। मैं सिर्फ़ तुम्हें जानता हूँ।" लालाजी हाँफ रहे थे।

सुधीरने लालाजीकी बढ़ती हुई साँसोंको लक्ष्यकर कहा-"आप आराम कीजिये। मुझे सोचनेका समय दीजिये। मैं..."

"नहीं बेटा...सोचनेकी इसमें क्या बात है। रत्नाको तुम जानते ही हो..."

सुधीर बड़े असमंजसमें था। लालाजी निरन्तर हाँफ रहे थे और लगता था जैसे दिलका दौरा फिर बढ़नेवाला है। उसने गम्भीर स्वरमें कहा-"मैं इसपर विचार करूँगा-आप आराम कीजिये।" कहकर वह वहाँसे चला आया।

शनिवारकी एक संध्या। आसमानमें बादल छाये थे। रह-रहकर बूँदा-बाँदी हो जाती। शीला अन्यमनस्क-सी खिड़कीके पास आसमानके लहराते बादलोंको देख रही थी। बचपनसे ही बादलोंके प्रति उसका आकर्षण रहा है। काले, सफ़ेद, चितकबरे बादलोंका समूह भागा जाता। उनसे तरह-तरहकी आकृतियाँ बनतीं और मिट जातीं।

पैरोंकी आहट हुई। सिर घुमाकर देखा—पति थे।

कुछ क़ीमती उपहार लाये थे। आजकल रोज़ वे कुछ न कुछ लाया करते थे।। बोले—"इसे देखो..."

शीलाने कोई ज़वाब नहीं दिया। मनके भीतर जाने क्या कुछ हो रहा था। वह बोलना नहीं चाहती थी। पति द्वारा लाये गये उपहार को इस तरह देखने लगी जैसे इससे क़ीमती चीज़ दुनियामें और कुछ न होगी।

शाम बीत गई। आज जाने क्यों सुधीरकी बड़ी याद आ रही थी। प्रकृतिसुन्दरीने अपने घने काले केशोंसे धरतीको ढँक लिया। रह-रहकर बिजली चमक उठती थी और मेघ गर्जन कर उठते थे।

शीलाकी आँखोंमें नींद नहीं थी। वह आँखें मीचे जाने क्या आकाश-पातालकी बातें सोच रही थी।...मन फिर मृत्युकी कामना करने लगा था—काली रात-सी मौतकी गोदमें वह समा सकती।...बिजली चमकती और उसकी आवाज़ हृदयको कँपा जाती। काश, यह बिजलीकी कड़क उसके हृदयकी गतिको बन्द कर देती...

पर...दूसरे ही क्षण पेटके शिशुकी चेतना होती और वह भागते चञ्चल मनको स्थिर करना चाहती। वह मरना चाहकर भी नहीं मर

सकती। नन्हा-सा मेहमान उसके जीवनमें आ रहा है। उसके स्वागत की तैयारियाँ करनी होंगी। उसे लोरी सुनानी होगी...

आजा निंदिया आ जा, तेरी हेरूँ बाट।
सोनेके हैं पाये जिसके, रूपे की है खाट...

नन्हा किलकारियाँ मारकर हँसेगा। दूध-सी उजली उसकी मुसकान होगी...न जाने किस लोककी स्मृति लेकर वह विहँसा करेगा। यह कैसा चक्र है। जन्मके साथ ही मृत्युका भय...शिशुकी रक्षा उसे करनी है, काली भयावनी मौतकी साया उसपर नहीं पड़ने देगी। आँचलके नीचे अपने लालको वह छुपाकर रक्खेगी ताकि उसका लाल बिजलीकी कड़कसे घबड़ा न जाय......

......सुधीर क्यों उसके जीवनको आलोड़ित कर गया? पुरुषकी जाति! तो क्या उसकी सारी बातें फ़िल्मकी डायलग थीं—सस्ती कहानी का रोमांटिक उच्छ्वास। ऐसे पुरुषोंका काम ही यह होता है लड़कियोंसे खेलना। खेल समाप्त होते ही वे अलग हो जाते हैं और फिर दूसरे खेल में मन लगाते हैं...

...पर...वह और कर क्या सकता था? शीला उसके जीवनमें गतिरोध बनकर आई थी। उसने कहा था—पतिको छोड़ सकती हो? मेरे साथ चलनेको तैयार हो?...वह कुछ भी नहीं कर सकती थी...वह अब भी कुछ नहीं कर सकती है, सिर्फ़ आँसू बहा सकती है, मरनेको सोच सकती है। सुधीर उसके जीवनमें तब आया जब उसके पङ्ख बाँध दिये गये थे। उसने पूछा—"उड़ सकोगी आसमानमें?" निरर्थक प्रश्न था। वर्त्तमानके बन्धन इतने कठोर थे कि वह भविष्यकी ओर देख भी नहीं सकती थी। और वह चला गया। उसे तो जाना ही था। रुककर क्या करता? क्या पता?

शंकरलालजी इन दिनों बड़े प्रसन्न थे। एक दिन जानकीको देखकर बोले—"तुम्हें किसी बातकी तक़लीफ़ तो नहीं है रामोकी मां?"

जानकी मालिककी इस अप्रत्याशित उदारतापर जैसे ठिठक-सी गई। बोली—"नहीं मालिक, आपका दिया खाते हैं। तक़लीफ़ किस बातकी।"

"तेरा मेहनताना आजसे पाँच रुपये बढ़ा दिया...मालकिनकी सेवा-टहल ठीकसे होनी चाहिए।" कहकर छड़ी घुमाते वे प्रातःभ्रमणको निकल पड़े।

जानकी इस उदारताका अर्थ समझ नहीं पाई। घरके सभी नौकर चाकर मालिकसे सहमे-सहमे रहते हैं। पता नहीं, कब, किस बातपर बरस जायँ। वह दौड़ी-दौड़ी शीलाके पास गई। बोली—"मालकिन, मालिकको कोई बड़ा मुनाफ़ा हुआ है क्या?"

शीला जानकीकी बातका आशय नहीं समझ पाई।

जानकी बोली—"मालिकको रोज़गारमें जब काफ़ी मुनाफ़ा होता है तो वे नौकर-चाकरोंकी पगार बढ़ा देते हैं। आज मेरी पगार पाँच रुपये बढ़ा दी। पहले पन्द्रह मिलते थे—आजसे बीस मिला करेंगे।"

शीला चुप उसकी बातें सुनती रही। जानकी कहे जा रही थी—"मालिक हो तो ऐसा! बिना कहे-सुने ही पगार बढ़ा देते हैं! सच कहूँ मालकिन—मालिकका दिल राजा दिल है। जिस दिनसे उन्हें यह बात मालूम हुई है कि घरमें सूरज आनेवाला है—उस दिनसे तो वे बिलकुल बदल गये हैं। आपका कितना ध्यान रखते हैं। बबुआ होनेपर मैं तो सोनेकी हँसुली लूँगी—यह अभी कहे देती हूँ मालकिन।"

शीलाने फीकी हँसीके साथ कहा—"बबुआ न हुआ तो?"

"राम कहो मालकिन—मेरा मन कहता है बबुआ ही होगा। और फिर बबुई भी हुई तो क्या? घरमें लक्ष्मी आयेगी। मेरे लिए तो दोनों बराबर हैं।" कहकर प्रसन्नतामें डूबी जानकी आगे बढ़ गई।

एक-एककर दिन बीतते गये। शीलाको दिन पहाड़-जैसे प्रतीत हो रहे थे। आख़िर वह घड़ी आ ही पहुँची जिसकी प्रतीक्षा महीनोंसे थी। लेडी डाक्टर और नर्स भाग-दौड़ रहे थे। शंकरलाल भी साँस रोके परिणामकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

एकाएक शिशुके रोनेकी आवाज़ आई। लेडी डाक्टर मुसकराती हुई बाहर निकली। शंकरलालजी उसके मुखकी तरफ़ देखने लगे। वह बोली—"कांग्रच्युलेसन। डिलीवरी अच्छी तरह हुई—गर्ल।"

शंकरलालका धड़कता हुआ दिल शान्त हो गया। वे तो बेटेके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। खिसियानी हँसी हँसते हुए बोले—"लक्ष्मी आई, अच्छा ही हुआ।"

प्रायः सप्ताह भर शीला पलंगपर ही लेटी रही। उसके पास ही मांस-पिंडकी वह नन्ही बच्ची लेटी रहती। शीलाकी आँखोंमें तृप्तिकी एक झलक थी। बेटा न होनेका दुःख निमिष भरके लिए मनमें आया, फिर दूसरे क्षण उसने अपनेको धिक्कारा। सन्तानके प्रति भेद-भाव वह माँ होकर कैसे सोच सकती है?

नन्हा शिशु रोता। शीला सोचती—पता नहीं किस लोकसे यह आई है? पूर्वजन्मका स्मरणकर शिशु रोता है—यह बात बचपनमें सुनी थी। गोरा रंग। कभी-कभी एक स्वर्गीय मुसकान उसके पतले नन्हें अधरोंपर आ जाती। शीलाको लगता—इतने सुखकी अनुभूति जीवनमें और कब हुई थी?

जीवनमें एक सम्बल आ गया है—रेगिस्तानमें 'ऑयेसिस' की तरह। अब तो वह जीवनके लम्बे डरावने दिन काट लेगी। प्यारकी भूख उसकी यह नन्ही बच्ची मिटायेगी।

शीलाकी आँखोंमें एक नई चमक आ गई थी।

मानव-चरित्रकी गुत्थियाँ सुलझानेवाले मनोविश्लेषकोंका कथन है कि मानव-मन समुद्रकी तरह गहरा है—इसके भीतरसे रंग-बिरंगके पदार्थ निकलते हैं। जगदीश भी ऐसा ही एक युवक था। वह भावुक अधिक था, फलतः आघातोंकी चोट भी ज़्यादा लगती थी। भावनाके क्षणोंमें वह कविताएँ लिखता था—उसकी आकांक्षाएँ एक ऐसे कल्पना-जगत्का निर्माण करती थीं जिसमें चिरन्तन आनन्द और सुखका आवास था। अभावके वातावरणमें वह पनपा था अतः अतृप्ति, असंतोष और विवशतासे ही उसका परिचय हो गया था।

प्रमिला जब उसके जीवनमें आई तो वह बड़े उत्साहसे आगे बढ़ा। पर जीवनकी राह बड़ी कँटीली थी। रास्ता लम्बा था—पथपर शूल बिछे थे। कलकत्ता जैसी महानगरीमें आकर तो वह और भी टूट गया। यहाँ जीवन बिलकुल निर्जीव—रसहीन, हृदयहीन, मशीनकी तरह था। स्वार्थोंका जाल बिछा था। कृत्रिम ढंगसे लोग मुसकराते थे, बातें करते थे और मशीनकी तरह काम करते थे। धनका देवता इस दुनियामें सबसे बड़ा था और भक्त इसी देव-मन्दिरमें पहुँचनेके लिए धक्कम-धुक्का करते थे। जो अधिक बलवान् और तेज होता वह मन्दिरकी घण्टियाँ डुलाकर मुसकराता वापस आता। असमर्थ, लाचार, शक्तिहीन टुकुर-टुकुर दूरसे मन्दिरकी शिखा देखा करते। मन्दिरकी सीढ़ियाँ तक पहुँचनेकी सामर्थ्य उनमें नहीं थी।

कुछ ही महीनोंमें प्रेमकी भाषा जगदीश भूल गया। टेलिप्रिण्टरसे आये अंग्रेजी समाचारोंके अनुवाद करते-करते सिरमें दर्द होने लगता

था। राष्ट्रोंकी राजनीतिक दाव-पेंचकी भाषा पढ़ते-लिखते हृदयकी भाषा वह भूलता गया। फलतः उसके मनमें कड़वापन आता गया—अपने प्रति, समाजके प्रति—सारे वातावरणके प्रति !

और फिर रात भर सिरकी दुखती रगको बायें हाथकी तलहथीसे थाम, अखबार रूपी राक्षसके लिए आहार जुटानेपर उसे क्या मिलता था—? सिर्फ़ दो रुपये। उसे लगता—उसके सारे अस्तित्वकी क़ीमत सिर्फ़ दो रुपये हैं ! झल्लाया हुआ सबेरे घर लौटता। आते ही चादर तान कर सो जाता। प्रमिला कहती—"क्यों जी, मुँह-हाथ नहीं धोओगे ?"

जगदीश झल्लाता—"मुझे जगाया मत करो—रात भर टाँगें पसारकर सोती हो न—इसलिए तुम क्या समझोगी ?"

प्रमिलाकी आँखोंमें विस्मय उतर आता। उसका जगदीश यह कैसी भाषा सीख गया है।

खाना उसे बुरा लगता। सूखी रोटीका कौर पानीके सहारे उतार कर कहता—"दाल नहीं बना सकती थी ?"

प्रमिला कहती—"महीनेका आख़िरी हफ्ता है। दाल ख़रीदनेको पैसे कहाँ हैं ?"

जगदीश सूखी सब्जीके साथ सूखी रोटीके दो-चार कौर खाकर उठ जाता। उसका चेहरा स्याह पड़ने लगा था। सुन्दर आकर्षक चेहरेपर झाइयाँ पड़ने लगी थीं। अपने पतिकी दशा देखकर प्रमिलाकी आँखें भींग जातीं।

एकदिन वह बोली—"एक बात कहूँ ?"

जगदीशने जिज्ञासा भावसे आँखें उठाईं।

"मैं टाइप करना सीख गई हूँ। रमा कहती थी कि उसके दफ्तर में दो महीनेके लिए टाइपिस्टकी नौकरी मिल सकती है।"

जगदीशने कुछ सोचकर पूछा—"दो महीनेकी नौकरी ! रमा तो बीमा-कम्पनीमें काम करती है ! कितना मिलेगा ?"

प्रमिला बोली—"रमा कहती थी—अभी दो महीनेके लिए जगह ख़ाली है। जो काम करता था उसे टी० बी० हो गई है और डाक्टरने उसे दो महीनेके लिए आराम करनेको कहा है ! कुल मिलाकर ७५) रुपये मिलेगें।"

"७५) रुपये ! मुझे तो ६०) रुपये ही मिलते हैं।"

प्रमिला उल्लसित होकर बोली—"छः महीनेकी नौकरीके बाद ६०) रुपयेका ग्रेड मिलेगा ! रमा कहती थी—"उस टाइपिस्टके लौट आनेकी कम उम्मीद है—वह शायद नहीं बचेगा।"

"प्रमिला !" जाने क्यों जगदीश चीख उठा। प्रमिला सकपका गई। दोनों चुप हो गये। ऐसा लगा मानो अशोभन वातावरण कमरेमें फैल गया है।

प्रमिलाने सहमते हुए कहा—"तुम्हारा स्वास्थ्य दिन-ब-दिन गिरता जा रहा है। रातकी ड्यूटी तुम छोड़ दो !"

जगदीशने उत्तर दिया—"और तुम्हारी नौकरीसे पेट पालूँ ?"

इस बार प्रमिलाका स्वर दृढ़ हो गया—"जब तुम मेरे लिए, रातकी ड्यूटी करके—अपना स्वास्थ्य गिराकर, मेरा पेट पाल सकते हो, तो मैं तुम्हारा हाथ बँटानेके लिए क्यों न कुछ करूँ ?"

जगदीश बोला—"यह तो मेरे पुरुषार्थको चुनौती है ! अब तुम्हारी रोटीपर मुझे जीना होगा ?"

प्रमिलाने उसी स्वरमें उत्तर दिया—"तुम बातको व्यर्थ तूल दे रहे हो। इसमें पुरुषार्थका प्रश्न कहाँ है ? जब हम दोनों पती-पत्नी हैं तो हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि एक दूसरेकी यथाशक्ति सहायता करें।"

"मैं ऐसी सहायता नहीं चाहता !" कहकर जगदीश कमरेसे बाहर हो गया।

प्रमिलाके हृदयको ठेस लगी। जगदीशके व्यवहारसे उसे पीड़ा हो रही थी। जिसपर विश्वासकर माँ-बाप, कुल-समाज, सबको ठुकराकर भाग आई—वही उसके साथ इस प्रकारका व्यवहार कर रहा है ! उसने कोई अनुचित बात नहीं कही। वह तो सच्चे हृदयसे पतिके बोझमें हाथ बटाना चाहती थी। बेचारी रमाने उसके लिए ब्रांच मैनेजरसे सिफ़ारिश की थी ! उसे कितना बुरा लगेगा !

उस रात उससे कुछ खाया नहीं गया। जगदीश अपनी नाइट-ड्यूटीपर चला गया। बहुत देर तक प्रमिलाको नींद नहीं आई। आकाश-पातालकी बातें सोचती रही। छः महीनेके भीतर जगदीशमें इतना परिवर्तन हो जायगा, इसकी कल्पना कौन कर सकता था ! उसके चरित्रके विरोधाभास मनमें मथते रहे। जब नौकरी नहीं करानी थी तो फिर टाइपिंग-सीखने क्यों जाने दिया ?

रात एक बड़ा डरावना सपना देखा। देखा कि सामने गंगा लहरा रही है। जगह बिलकुल सुनसान है। वह जगदीशके साथ गंगा-किनारे टहलने आई है। वायु बन्द है। वातावरणमें एक अजीब ऊमस है। गंगामें बाढ़का पानी कगार तोड़कर शोर मचाता हुआ लौट जाता है।

एकाएक गंगाकी एक ऐसी धारा आई कि उसने प्रमिलाको अपनी चपेटमें ले लिया। प्रमिला जगदीशकी ओर देखते हुए चिल्लाई—"मुझे बचाओ...मुझे बचाओ ! मैं डूब रही हूँ।"

जगदीश अर्थहीन दृष्टिसे उसे देखता रहा। उसके मुँहसे एक शब्द भी नहीं निकला।

वह चीखती रही—"जगदीश मुझे बचाओ...मैं डूब रही हूँ !"

जगदीश अर्थहीन दृष्टिसे देखता रह गया। उसके मुखपर कोई भाव नहीं आया। निर्लिप्त, वीतराग भावसे उसने देखा किया और मँझधारमें चक्कर खाकर प्रमिला अतल जलमें समा गई!

एक अस्फुट चीखसे उसकी नींद टूट गई! सुबहका सपना! आँखें मलकर वह घबड़ाई-सी सोच ही रही थी कि किवाड़पर दस्तककी आवाज़ सुनाई पड़ी।

उठकर उसने किवाड़ खोल दिये।

जगदीश झुँझलाकर बोला—"ऐसी भी क्या नींद। घण्टे भरसे आवाज़ दे रहा हूँ और महारानीजीकी नींद ही नहीं खुलती!"

प्रमिलाने देखा—जगदीशकी आँखें सुर्ख थीं—चेहरा पीला और मुरझाया था। जगदीश बोला—"मैं रात भर बुखारमें काम करता रहा और घण्टे भरसे दरवाजा पीट रहा हूँ।"

प्रमिलाने लड़खड़ाते हुए पतिको सहारा दिया और उसे लिये हुए कमरेमें आई।

जगदीश बिछावनपर जाकर लुढ़क गया। उसका सारा बदन तवा-सा जल रहा था। अंग-अंग दर्दसे टूट रहा था।

भयानक स्वप्नके बाद पतिकी यह दशा देखकर प्रमिलाका जी धड़कने लगा। एक अज्ञात भय और आशंकासे उसका मन सिहर उठा।

जगदीशने खाट पकड़ ली और २०-२१ रोज़ तक वह खाटपर ही रहा। बुख़ार मियादी था। परदेशमें अकेली लड़की प्रमिलाने ये दिन दुःस्वप्नकी तरह ही काटे। घरके सारे पैसे ख़र्च हो गये। जगदीशकी कलाई-घड़ी तक बन्धक रखनी पड़ी। बुख़ार कभी-कभी १०३-४° डिग्री तक पहुँच जाता और विक्षिप्तावस्थामें वह अंट-संट प्रलाप करता। मुहल्लेके डा० सरकार महाशय तक भी चिंतित हो उठे। पर प्रमिला रात-दिन जुटी रहती। बड़े धैर्य और साहससे उसने काम लिया। इस

बीच दो शाम अन्नका एक दाना भी प्रमिलाको नहीं मिला। आस-पड़ोस से कर्ज लेकर जब थक गई तो दो शाम उपवास करना पड़ा। पर रोगीके लिए दूध और दवाका प्रबन्ध तो करना ही था! रमा बनर्जीने बड़ी सहायता की। पचीस रुपये कर्ज़में दिये पर दवा और इन्जेक्शनमें वे पैसे कपूरकी तरह उड़ गये! मनमें आया—बड़ी बहिन शीलाको तार दें। पर स्वाभिमानने हाथ रोक दिया। जब तक दममें दम है, वह हाथ नहीं पसारेगी।

जगदीशका चेहरा श्री-हीन हो गया था। दाढ़ी बढ़ गई थी, आँखें धँस गई थीं। वह चुपचाप छतकी ओर देखता रहता और सोचता रहता। जाने क्या सोचता! बिल्कुल कम बोलता था। ऐसा लग रहा था जैसे उसकी चेतन-शक्तिका ह्रास हो रहा हो।

जगदीशकी कलाई-घड़ी बन्धक रखते बड़ी व्यथा हुई थी। पर और कोई उपाय न था। इन्जेक्शन खरीदनेको पैसे नहीं थे और अब उधार देनेमें भी पड़ोसियोंने लाचारी प्रकट की थी!

रमाने पूछा—"अभी तक वह जगह ख़ाली है। आना चाहती हो?"

प्रमिला समझ गई कि रमाने फिर बात क्यों चलाई है। घरकी दशा रमासे छिपी न थी। वह बोली—"इसमें हर्ज क्या है? तुम जैसी हज़ारों लड़कियाँ दफ्तरोंमें काम करती हैं। तुम तो विवाहित हो—तुम्हें तो कोई ख़तरा भी नहीं—" कहकर वह मुसकराई।

प्रमिला क्या उत्तर देती! बोली—"उनसे पूछकर जवाब दूँगी।"

शामके समय जब बुख़ार बिलकुल उतर गया था और जगदीश बाहर बरामदेमें मोढ़ेपर बैठा था तो प्रमिलाने बात चलाई—"तुम मेरी एक प्रार्थना मानोगे?"

जगदीशने अभ्यासके अनुसार अपनी जिज्ञासु आँखें ऊपर उठाईं।

प्रमिला बोली—"वह नौकरी मुझे अभी भी मिल सकती है।"

जगदीशने कोई उत्तर नहीं दिया।

प्रमिला बोली—"मुझसे अब रहा नहीं जाता! तुम्हारी कलाई-घड़ी तक बन्धक रखनी पड़ी।" वह फूट-फूटकर रो पड़ी।

जगदीशने आहिस्ते उत्तर दिया—"नौकरी तुम कर लो।"

प्रमिला नहीं समझ पाई कि इस स्वीकृतिको वह किस रूपमें ग्रहण करे। पर जाने क्यों इस बातको और खींचना उसने अच्छा नहीं समझा।

बोली—"तो रमाको मैं कह दूँ?"

जगदीशने स्वीकार करते हुए गर्दन हिला दी।

प्रमिला भागी-भागी रमाके घर पहुँची। वह दफ्तरसे लौट चुकी थी। पतिकी स्वीकृतिकी बात उसने रमासे कही।

रमाने पूछा—"कलसे मेरे साथ चल सकोगी?"

प्रमिला राजी हो गई।

जगदीशका बुख़ार उतर चुका था। कमज़ोरी बाक़ी थी। उसने भी सोचा—दो-तीन दिन आराम करनेके बाद वह भी काम पर जायगा।

सबेरे साढ़े नौ बजते-बजते खाना पका, बर्तन धोकर, पतिसे अनुमति लेकर प्रमिला तैयार हो गई। रमा उसे लेने आई। जगदीशसे मुसकरा कर बोली—"घबड़ायेंगे नहीं! हम इसे सकुशल वापस ले आयेंगे।"

प्रमिलाका जी धड़क रहा था। नौकरीका पहला दिन था! रमा रास्ते भर उसे क़ायदे-क़ानून समझाती रही। बोली—"लोग थोड़ी 'लिबर्टी' लेंगे—इससे नाराज़ न होना।"

प्रमिलाने विस्मयके स्वरमें पूछा—"यह 'लिबर्टी' लेना क्या होता है?"

रमा बोली—"आदिम कालसे पुरुष नारीसे थोड़ी 'लिबर्टी' लेता आया है। स्त्री होनेका दण्ड घर-बाहर सब जगह भुगतना पड़ता है।"

रमा उसे लेकर ब्रांच मैनेजरके पास गई। ब्रांच मैनेजर रमाके मामा होते थे और इसलिए रमाकी सिफ़ारिश खाली नहीं जा सकती थी। एक महीनेकी एवजी नौकरी प्रमिलाको मिल गई। टाईप सेक्सनमें रमा उसे ले गई और लोगोंसे परिचय कराते हुए कहा–"न्यू रिक्रूट"।

दफ्तरमें सभी तरहके लोग थे। विभिन्न मुद्राओंमें प्रमिलाका स्वागत किया गया।

मिस्टर भट्टाचार्या छुटा हुआ क्लर्क था। चादुर्ज्याकी तरफ़ देखकर उसने आँखें मारीं। मिस डारथीका झुलसा हुआ चेहरा जैसे और झुलस गया।

प्रमिला वहाँका वातावरण देखकर घबड़ाई। ये मर्द ऐसी भूखी आँखोंसे क्यों देखते हैं? क्या इनके घर माँ-बहिनें नहीं हैं?

लंचके समय रमासे उसने चर्चा की तो वह बोली–"चाहे घरमें रहो, या दफ्तरमें, मर्द तुम्हें 'घूरेंगे' ही! सैकड़ों वर्षोंका संस्कार है! एक दिनमें तो ख़तम नहीं होगा। ये सारे लोग निम्न मध्यवर्गके हैं जहाँकी औरतें कभी खुले आसमानके नीचे नहीं आईं। इन्हें उपेक्षाके साथ ग्रहण करो, सब ठीक हो जायगा।

पहले दिनका अनुभव कुछ अटपटा-सा था। काम साधारण थे। रजिस्टरसे देखकर पालिसी-होल्डरका नाम और पता लिफ़ाफ़ेपर टाइप करना।

पर प्रमिलाने अनुभव किया–यहाँकी दुनिया भिन्न है–यहाँके लोग भिन्न क़िस्मके हैं। पर जब काममें बझ जाना पड़ा तो संतोषकी एक अनुभूति-सी हुई। वह अपने श्रमसे उपार्जन कर रही है! श्रमकी अनुभूति बड़ी सुखकर थी। काम करते रहनेसे मन कितना भरा रहता है!

शामको जब वह ड्यूटी ख़तमकर वापस लौटी तो बहुत कुछ चिन्ता दूर हो गई थी। सिर्फ़ एक आशंका थी–पता नहीं, जगदीशपर इसकी

क्या प्रतिक्रिया हो ! शायद वह भीतरसे नहीं चाहता कि उसकी पत्नी नौकरी करे ! इसी द्विधाके साथ वह घर पहुँची ।

प्रमिलाकी आशंका ठीक थी । जगदीशके चेहरेपर वितृष्णाकी छाप थी । उसकी मुखाभिव्यक्ति साफ़ प्रकट कर रही थी—मुझे यह सब नापसन्द है !

प्रमिलाने उत्साहके स्वरमें कहा—"दफ्तरके सभी लोग अच्छे हैं । मेरे साथ बड़ी आत्मीयतासे पेश आये ! काम भी कोई मुश्किलका नहीं ।"

जगदीशने सिर्फ़ एक वाक्य कहा—"यह सब तो ठीक है, पर मैं क्या तुम्हारी रोटियोंपर जीऊँगा ?"

प्रमिलाको धक्का-सा लगा । यह आदमी किस धातुका बना है ! ऐसी सरस कविताएँ लिखनेवाला व्यक्ति इस तरहकी कठोर बात बोल सकता है ! पर प्रमिला हार मानना नहीं चाहती थी । बोली—"मेरी रोटियोंपर जीनेका प्रश्न ही कहाँ उठता है ? गृहस्थीमें आख़िर मेरा भी कुछ हिस्सा है । मैं यदि अपना कर्त्तव्य करना चाहती हूँ तो तुम्हें बुरा क्यों लगता है ?"

प्रमिला की बात सुनकर जगदीश अचम्भेमें आ गया । प्रमिला इस तरहका उत्तर दे सकती है, यह उसकी कल्पनामें नहीं आया था । वह कुछ क्षणों तक ठिठका, मूढ़-सा उसकी ओर देखता रहा । उसके बाद पति-पत्नीमें और कोई बात नहीं हुई । प्रमिलाने चूल्हा सुलगाया—रोटियाँ सेंकीं, भाजी बनाई ।

जगदीश खाना खाकर बाहर निकल गया । वह अभी भी कमज़ोर था । प्रमिलाने टोका—"कहाँ जा रहे हो ?"

जगदीश बोला—"प्रेस जा रहा हूँ ।"

"अभी तो तुम कितने कमज़ोर हो, काम कैसे कर सकोगे ?"

"काम तो करना ही पड़ेगा ।" कहकर वह घरसे बाहर निकल गया ।

सौन्दर्य-शास्त्रके वेत्ताओंका कथन है सौन्दर्यके कई पहलू हैं। कुछ सौन्दर्य ऐसे होते हैं जो दूरसे देखनेपर ही अच्छे लगते हैं–पास आते ही भ्रम टूट जाता है। कोयलकी कूक आम्रकुंजसे जब आती है तो मन-प्राणमें एक अलौकिक रसका उद्रेक होता है। यदि कूकनेवाली कोयल सामने आ जाय तो मनमें एक कचोट उठती है–विधाताने ऐसी आवाज़ देकर–इतना अशोभन रूप क्यों दिया? पुष्पोंके उद्यानमें रंग-बिरंगके फूल देखकर चित्त आह्लादित हो उठता है–पास जायें तो गुलाबके साथ काँटे भी मिलेंगे! जिस फूलकी चाँदीकी ओढ़नी देखकर विधाताकी कारीगरीपर आप हैरान थे—यदि उस फूलको आप हाथमें लें तो उसकी 'बू' से माथा फट जायगा! यह तो अफीमका फूल है!

रत्ना उन लड़कियोंमें थी जिन्हें यह सोचनेका अवसर नहीं मिलता कि कल क्या होगा? वे वर्तमानमें ही इतनी उलझ जाती हैं कि आगे-पीछे देखनेको उन्हें फुरसत नहीं मिलती।

लाला दीपकचन्दका मन रखनेके लिए उसे बड़ी कुर्बानी देनी पड़ रही थी। लाला दीपकचन्दने प्रायः तय कर लिया कि दोनों विवाह-सूत्रमें बाँध दिये जायँगे और इसलिए सुधीरको भावी दामादके रूपमें देखने लगे थे।

रत्नाके रूपमें शीलाका आकर्षण था, पर यह गंधहीन था! शीला सुरभिमय थी। कुछ ही दिनोंके सान्निध्यमें सुधीरके जीवनपर वह छा गई थी। और यह रत्ना... ?

धीरे-धीरे उसके अवचेतन मनमें रत्नाके लिए घृणाकी परत जमती गई! पता नहीं घृणाका यह स्रोत कैसे आया? उसे रत्नाका सारा व्यक्तित्व अरुचिकर लगने लगा!

रत्नाके हृदयमें प्रेमका ज्वार जितनी तेजीसे आया, उतनी ही तेजीसे वह भाटेके रूपमें लौटने लगा। उसके मनमें एक भावना बद्धमूल होकर ज़ोर पकड़ती गई—आख़िर सुधीर उसके पिताका नौकर था! ख़ूबसूरत और जवान होनेसे क्या होता है? सुधीर उसकी हैसियतका कब था?...जैसे एक बहुत बड़े रहस्यका उसने पता लगा लिया हो! वह सुधीरपर हावी होना चाहती थी। उसकी बात-चीतसे अपने "अभिजात" और अधिक सम्पन्न होनेकी "बू" टपकने लगी!...

रत्नाको क्लबों और पार्टियोंसे शौक़ था। "ऊँची सोसाइटी" में घूमना वह पसन्द करती थी। फ़ैशनके रूपमें उसने संगीत और चित्र-कलाको भी ग्रहण किया था। पर उसका मन किसीमें नहीं जमता था। पिता फिल्म-व्यवसायमें थे, इसलिए बचपनसे ही फिल्मोंकी ओर उसका झुकाव था। एक बार "हिरोइन" बननेके लिए वह मचल गई थी, पर लाला दीपकचन्दने ऐसा नहीं होने दिया। फिल्मोंका धन्धा करनेका यह मतलब नहीं कि अपनी बहू-बेटियोंको भी फिल्ममें भेज दें!

रत्नाकी आँखोंमें सिर्फ़ विजयकी भावना दिखलाई पड़ती। वह अपने रूप-जालमें पुरुषोंको उलझाती और उलझकर जब वे छटपटाने लगते तो वह विजयकी हँसी हँसती।

वह फिल्मोंकी "हिरोइन" नहीं बन पाई। पर वास्तविक जीवनमें तो 'हिरोइन' बन गई। सुधीर और चाहे जो हो—'प्रणयी' नहीं हो सकता! एक बार वह खीझ उठी—'आप इतना सोचते क्यों रहते हैं?'

उत्तरमें सुधीर सिर्फ़ मुसकराया। बोला—"सोचनेकी इतनी बातें हैं कि ख़तम ही नहीं होतीं।"

"भगवान् बुद्धके बाद संसारके लिए आप ही सबसे अधिक चिंतक व्यक्ति मालूम पड़ते हैं।"

"भगवान् बुद्ध तो 'भगवान्' थे। मैं तो साधारण आदमी हूँ और साधारण बातें ही सोचता हूँ।"

"आपकी वे साधारण बातें क्या हैं, मैं जान सकती हूँ?" रत्नाके प्रश्नमें व्यंग्य था।

"मैं भाग्यकी बातें सोचता हूँ! कहाँसे कहाँ पहुँच गया।"

"यह तो सौभाग्यकी बात है।" रत्नाने छींटे कसे।

सुधीर समझ गया। किंचित् मुसकराकर बोला—"कभी-कभी सौभाग्य सबसे बड़ा दुर्भाग्य साबित होता है।"

रत्ना उत्तरसे तिलमिला गई। बोली—"ऐसे सौभाग्यके लिए भी बहुत आदमी लालायित रहते हैं। मिल जानेपर दर्शनकी सूक्तियाँ कहते फिरते हैं।"

सुधीरने उत्तर देनेकी आवश्यकता नहीं समझी। रत्नासे तर्क करते हुए हल्कापन लग रहा था। सारे शरीरमें घृणाका विष फैल चुका था। अपनी मूर्खतापर, अपनी नादानीपर बड़ा क्षोभ हो रहा था।

रत्ना बोली—"मेरा जी कलकत्तेसे ऊब जाता है। सोच रही हूँ कि कल दिल्ली चलूँ।"

"दिल्ली।"

"दिल्लीमें बुआजी रहती हैं। उन्होंने कई बार दिल्ली आनेका न्यौता दिया—पर जाना नहीं हो सका।" फिर सुधीरकी ओर देखकर अनमने भावसे पूछा—"आपको फ़ुर्सत है?"

सुधीरके मनमें आया कि कह दें—मुझे फ़ुर्सत नहीं, पर बोला—"आप कहेंगी तो फ़ुर्सत निकालनी ही पड़ेगी।"

"मेरे लिए फ़ुर्सत निकालनेकी ज़रूरत नहीं। मैं अकेली भी जा सकती हूँ।"

रत्नाके स्वरमें इतना कसैलापन था कि सुधीरका मन तीता हो गया। बोला—"दिल्ली देखनेका मुझे कोई आकर्षण नहीं है। कई बार हो आया हूँ।"

"मुझे तो है—मैं कल जाऊँगी।" कहकर उत्तरकी प्रतीक्षा किये बिना खट्-खट् जूतेकी एड़ियाँ बजाती रत्ना वहाँ से चली गई।

रत्नाके चले जानेपर कमरेमें स्तब्धता छा गई। सुधीरको ऐसा लगा—उसके सारे पुरुषार्थको यह नारी हेय बनाकर गई है। बहुत देर तक वह अपनी कुर्सीपर बैठा रहा। सिगरेटपर सिगरेट फूँकता रहा। सिगरेटके धुएँकी तरह भावनाएँ उलझी और बेतरतीब थीं, मकड़ीके जालेमें जैसे कोई निर्दोष असहाय प्राणी फँसकर तड़प रहा हो। सारा जीवन फिल्मकी रीलकी तरह घूम रहा था—रंग-बिरंगके चित्र थे—छोटी बड़ी अनेक परिचित आकृतियाँ थीं—वे सभी जैसे उसका उपहास कर रही थीं—कहाँ पहुँच गये सुधीर? तुमने ऐसे ही दिनके लिए अपनेको संघर्षरूपी अग्निमें तपाया था?

बाहरका अंधकार चोरी-चोरी कमरेमें पहुँच चुका था। ऐसा लग रहा था जैसे मनके अंधकारसे उसने तादात्म्य स्थापित कर लिया हो।

जगदीश जब अख़बारके दफ्तरमें पहुँचा तो वहाँका वातावरण बदला हुआ मिला। प्रबन्ध संपादकने कंधे सिकोड़ते हुए कहा—"साहब, यह तो अख़बारका दफ्तर है—रोज़ कुँआ खोदो और पानी पीओ। काम तो बन्द नहीं किया जा सकता था। आपके जानेके चौथे रोज़से एक नये आदमीको रखना पड़ा, आपकी जगह वही काम कर रहा है और फिर संपादकजीका कहना है कि आपका काम सन्तोषजनक नहीं रहा—

अनुवादमें बहुत भूलें रहती थीं। आप तो ट्रायल-पीरियडमें थे, इसलिए नोटिस देनेकी कोई ज़रूरत नहीं समझी गई।"

जगदीश किंकर्तव्य-विमूढ़-सा खड़ा रहा। इस बातकी उसने कल्पना नहीं की थी।...जिस मेज़पर वह काम करता था, वहाँ जाकर देखा कि एक पतला-दुबला रोगी-सा युवक बैठा है। वह वापस लौट रहा था कि कंपोजीटर नारायण मिल गया! उसे देखकर बोला—"जगदीशजी, आपका स्वास्थ्य तो बहुत गिर गया। अच्छा किया, इस अजगरसे छुटकारा मिला। जो यहाँ आता है उसका ख़ून जोंककी तरह ये चूस लेते हैं। आपकी जगह किसे दी गई है, मालूम है?..." पास आकर वह फुसफुसाया—"प्रबन्ध-संपादकके कोई फुफेरे भाई हैं। यहाँ तो चचा-भतीजावाद चलता है।" कहकर नारायण गेली-प्रूफ लिये आगे बढ़ गया।

जगदीशको लगा जैसे धरती घूम गई। उसे अपना सिर चकराता-सा लगा। मुश्किलसे वह बाहर आ सका। देखा—रंग-बिरंगकी रोशनीमें कलकत्तेका जीवन मुखर है।...वेश्या-सी निर्लज्ज यह नगरी अपने रूपपर इतरा रही है।...किसी सेठके यहाँ शादी थी। उसका 'संतोष महल' रंग-बिरंगी बल्बोंसे सजाया गया था और ग्रामोफोन रिकार्डकी आवाज़ लाउडस्पीकरसे होकर आ रही थी—

"होय पिया,
पकड़ो ना बँहिया हमार
कलाई मेरी टूट जायगी..."

विशुद्ध वासनाका गीत था! गानेवाली हरजाई क़िस्मकी औरत रही होगी, नहीं तो इतनी लोच गलेमें कभी नहीं आती। गानेकी कड़ियाँ जगदीशका जैसे पीछा कर रही थीं—

"होय पिया,
घूरो ना 'जोबना' हमार..."

जगदीशका सिर चक्कर खा रहा था। लगा—जैसे सारी दुनिया उसके विरुद्ध षड्यन्त्र कर रही है—घर-बाहर सभी जगह नियति उसका उपहास करनेपर तुली है...कहाँ जाय वह ? क्या करे ?...

घर वापस आकर उसने जब सांकल खटखटाई तो प्रमिला जूठे बर्तन धो रही थी। दरवाज़ा खुलते ही बिना कुछ कहे जगदीश खाटकी ओर बढ़ा।

प्रमिलाने आहिस्ते पूछा—"क्यों, बहुत जल्दी लौट आये ?"

जगदीश जैसे चीख पड़ा—"हाँ लौट आया। मेरी नौकरी छूट गई। अब खुश हो जाओ—खुशियाँ मनाओ।" वह इतनी ज़ोरसे चिल्लाकर बोला कि प्रमिला सन्न रह गई। उस रात पति-पत्नीमें और कोई बात-चीत नहीं हुई।

दूसरे दिन सबेरे चाय पीकर जगदीश बिना कुछ कहे बाहर निकल गया। सभी समाचार-दफ्तरोंके चक्कर लगाये। कहीं काम नहीं मिला। प्रमिलाका जी धड़क रहा था। दस बज गये, जगदीश नहीं लौटा। रमा आई। बोली—"दफ्तरका समय हो गया..."

प्रमिला सोच नहीं पा रही थी कि वह क्या करे ? खाना बन चुका था—पर अकेले उससे खाया नहीं गया। नौकरीके दूसरे ही दिन छुट्टी लेनेका साहस नहीं हुआ। वह जानती थी कि तालीकी एक चाभी जगदीशके पास है। जबसे प्रमिलाने टाइपिंग सीखनी शुरू की—तालीकी दूसरी चाभी जगदीश अपने पास रखता था।

बिना कुछ खाये, कपड़े बदलकर वह रमाके साथ दफ्तर जानेको तैयार हो गई।

उस दिन दफ्तरके काममें मन नहीं लगता था। अँगुलियाँ टाइप कर रही थीं—मन जगदीशकी चिन्तामें लगा हुआ था।...जगदीश ऐसा क्यों हो गया? भर दिन काम करते-करते थक गई। सुबह में सिर्फ़ एक कप चाय पी। सिरमें दर्द होने लगा। पाँच बजते ही वह दफ्तरसे निकल गई। जब घर पहुँची तो आशंकासे हृदय धड़क रहा था।

पर जगदीश लौटकर नहीं आया था। खाना ज्यों-का-त्यों प्लेटसे ढँका रखा हुआ था। प्रमिलाका मन रुँआसा हो गया। परदेशमें—माँ-बापसे विद्रोहकर, जिस आदमीके सहारे वह चली आई थी—क्या वही उसे तड़पाया करेगा?...

चूल्हा जलानेकी इच्छा नहीं हुई। और फिर दिनका खाना पड़ा हुआ था। वह जगदीशकी प्रतीक्षा करती रही...रात गुज़रने लगी! आधी रात हो गई। भय और आशंकासे प्रमिलाका जी धड़कने लगा।

एकाएक साँकल पीटनेकी आवाज़ हुई। कोई ज़ोरोंसे साँकल बजा रहा था। लपककर प्रमिलाने दरवाज़ा खोला—जगदीश ही था। एक अज़ीब क़िस्मकी बू उसके मुँह और कपड़ोंसे निकली। प्रमिलाको जैसे बिच्छूने काट लिया हो—शराब!

जगदीश लड़खड़ाते स्वरमें बोला—"मुझे हैरान आँखोंसे क्यों देख रही हो! मैं क्या कोई भूत हूँ?"

प्रमिलाके मनमें आया कि बुक्का फाड़कर रो दे। पर उसने अपने आवेगको नियन्त्रणमें रखा। पूछा—"खाना निकालूँ?"

"नहीं, मैं होटलमें खा चुका हूँ।" जगदीशने बिछावनपर लेटते हुए कहा—"कल शामको दफ्तरसे ग्यारह रुपये मिले थे—पिछला हिसाब। मैंने ग्यारह रुपये फूँक दिये! मुझे कोई नौकरी नहीं मिली। और अब मैं नौकरी भी क्यों करूँ! तुम जो कमाने लगी हो।" जगदीशकी आँखें

सुर्ख थीं—आँखे झप रही थी—शराबका नशा तन-मनपर पूरे जोशमें था। थोड़ी ही देरमें वह खर्राटा भरने लगा।

प्रमिलाको उस रात नींद नहीं आई। भविष्यका पट अन्धकारसे पुता हुआ था। जिस आदमीपर भरोसाकर उसने अपना सिर टिकाया था—उस आदमीके कन्धे कितने दुर्बल प्रमाणित हुए? जीवनकी पहली चोटमें ही वह लड़खड़ा गया। आगे वह कैसे लड़ सकेगा?

उठकर खानेकी इच्छा नहीं हुई। चुप-चाप सोचती रही और मथती रही। विचारोंके मन्थनसे निष्कर्ष रूपी नवनीत नहीं निकल पाया।

आँखोंमें ही रात कट गई। कर्कश रव करता हुआ किसी जूट मिल का भोंपू बजा जो इस बातका संकेत था कि श्रम बेचनेका समय आ गया है।

दूसरे दिनसे जगदीशका व्यवहार बदला हुआ था। उसने परि-स्थितियोंके सामने घुटने टेक दिये थे। हिम्मत उसकी पस्त हो गई थी और देरतक बिछावनपर लेटा रहा।

प्रमिलाने नौ बजते-बजते खाना तैयार कर लिया था। पौने दस होनेको आये। प्रमिला नहा-धोकर आफ़िस जानेको तैयार हो गई। जगदीश चुपचाप बिछावनपर आँखे मूँदे लेटा रहा।

प्रमिलाने कहा—"मुँह-हाथ धो लो। दिन काफ़ी निकल आया।"

लेटे-ही-लेटे जगदीशने उत्तर दिया—"मुझे कहीं जाना तो है नहीं।"

"हाथ-मुँह धो लेनेमें तो कोई हर्ज नहीं।"

जगदीश झल्लाकर बोला—"मैं जानता हूँ किस बातमें हर्ज है किसमें नहीं! तुमसे अब सबक़ नहीं सीखूँगा।"

प्रमिला पतिके पास चली आई। उसके रूखे, अस्त-व्यस्त बालोंमें अँगुलियाँ फेरती बोली—"देखो जी, मन छोटा न करो। जब तुम ही

हिम्मत हारोगे तो मेरा क्या होगा? तुम कोशिश करो। आख़िर इतना बड़ा शहर है—कहीं-न-कहीं नौकरी मिल ही जायगी—और फिर भगवान् की कृपासे मुझे नौकरी मिल गई है—कुछ सहारा तो है।"

"मैं तुम्हारा सहारा नहीं चाहता।" जगदीश चीखकर उठ बैठा—"मैं जानता हूँ दफ्तरमें काम करनेवाली लड़कियोंको काम करनेके अलावा और कुछ करना पड़ता है!"

"और कुछ करना पड़ता है!"

प्रमिला चकित रह गई। इस जगदीशका मन इतना संकीर्ण है।

जगदीश ग़ुस्सेमें बक रहा था—"टाइपिस्ट लड़कियाँ तो आधी वेश्या होती हैं। अपने साहबको ख़ुश करनेके लिए उन्हें बहुत कुछ करना पड़ता है।"

प्रमिलाका चेहरा लज्जासे आरक्त हो उठा। वह कोई बहुत कड़ा जवाब देनेको सोच रही थी, इसी समय रमाकी आवाज़ सुनाई पड़ी—"क्यों, दफ्तर नहीं जाओगी भाभी?"

रमा कभी-कभी प्रमिलाको भाभी कहकर चुहल करती थी। यों उम्रमें रमा ही एकाध साल बड़ी होगी।

आवाज़ सुनकर प्रमिलाने अपनेको संयत किया। जगदीशकी ओर बिना देखे बोली—"चलो...।" जगदीशको यह उपेक्षा असह्य प्रतीत हुई। पर दूसरेके सामने वह चिल्ला नहीं सका।

खाना खाकर जगदीश घरसे निकल गया—नौकरीकी तलाशमें! जाने कहाँ-कहाँ गया, पर सब जगह एक ही उत्तर मिला—सॉरी, खेद है महाशय!

खेद है महाशय...खेद है महाशय...ये शब्द जैसे कनपटीपर तड़ाक-तड़ाक बजते थे। चक्कर लगाते-लगाते सिरमें चक्कर आने लगे।

शाम हो गई। गोधूलिके बाद निर्मल आकाशमें चाँद निकल आया—बौना-सा पीला चाँद अपने पीले दाँत निपोड़कर मानो कलकत्ताको देख रहा था! किसीको चाँद देखनेकी फुर्सत नहीं थी। चाँदके रूपपर वहाँ कोई नहीं रीझता था। चाँदीकी चमकपर ही सारा कलकत्ता लट्टू हो रहा था। तो बेचारा चाँद दुरदुराये गये कुत्ते-सा खीसें निपोड़ता आसमानमें लटका था।

थककर जगदीश मैदानकी एक बेंचपर आ बैठा। ऐसा लग रहा था जैसे माथेकी नसें फट जायँगी। घर लौटनेकी इच्छा नहीं हो रही थी। प्रमिलाका वह उपेक्षामिश्रित भाव घृणाका उद्रेक कर रहा था। वह अपनेको हारा हुआ, टूटा हुआ आदमी महसूस कर रहा था।

बहुत देर तक वह अवसन्न वहीं बैठा रहा। रात भींगने लगी। रातके भींगनेके साथ ही मनमें जाने कैसी एक दुर्दम आकांक्षा तीव्र हो उठी—क्या है यह जीवन? क्या है यह जगत्? सारा जीवन नाटकका एक अंक है—जन्म-जन्मान्तरसे यह नाटक खेला जा रहा है पर यह कभी समाप्त नहीं होता। इसका लेखक भी जाने कैसा विचित्र प्राणी है जो नाटकको खींचे जा रहा है। कोई राजा बनता है, कोई रानी बनती है और कोई विदूषक! रूपकका यह इन्द्रजाल संभवतः मनुके युगसे चला आ रहा है और मनुष्य तुच्छताओंमें खोया अपनी सारी शक्तिका अपव्यय कर रहा है।

प्रमिला उसकी कौन है? यह तो मायाकी एक कड़ी है—तुच्छताकी एक शृंखला! ये सारे रिश्ते-प्रणयका यह सारा कारोबार मात्र प्रवंचना है—सत्य है नाटकका अन्तिम दृश्य...मृत्यु!

मृत्यु...

जगदीश को लगा—जैसे बहुत दिनोंसे अवचेतन रूपसे मृत्युकी कामना वह करता रहा है। रवि बाबू की वह कविता—

सम्मूखे शान्तिर पारावार...
भासाउ मोर तरणी हे कर्णधार...

मन उसका छटपटा उठा। वह एकाएक उठ खड़ा हुआ और तेज़ीसे आगे बढ़ता गया। आँखोंके सम्मुख रहस्यका एक झीना आवरण झलमला जाता था। कबीरकी पंक्तियाँ गुनगुनानेको इच्छा हो रही थी—

हो चलती बिरिया...
हमको उढ़ावे चदरिया हो चलती बिरिया...

कदम बड़ी तेज़ीसे उठ गिर रहे थे। पैरोंमें कोई लड़खड़ाहट नहीं थी। वह जैसे किसी लक्ष्यको पाने भागा जा रहा हो—ट्रेन छूट रही हो और वह उसे पकड़ने दौड़ रहा हो...

हावड़ा ब्रिज...

वह हावड़ा ब्रिजपर था। वह आगे बढ़ता गया और फिर आँखें मूँदकर वह कूद गया।

कुछ क्षणोंमें ही जगदीशके जीवनका नाटक समाप्त हो चुका था। उस समय कुछ अभागोंको छोड़ सारा कलकत्ता सो रहा था। रातके सवा दो बजे थे।

उधर भयानक सपना देखते-देखते प्रमिला चीख़ उठी थी। भयसे उसकी आँखें खुल गईं। लगा—जैसे किसीने भयानक चीख़ मारी थी। कौन था वह?...जगदीश तो अभी तक नहीं लौटा था! उसकी आँखें आँसुओंमें डूब गईं...जाने क्यों फफककर रुलाई आ रही थी...

प्रमिला उसके बाद सुबह तक रोती ही रही थी।

बच्चीको जन्म देकर शीलाकी मातृत्वकी भूख तो तृप्त हुई पर शंकरलालका मन नहीं भरा। किसी ज्योतिषीने बताया था कि उन्हें लड़का होगा और इसलिए पूरी आशाके साथ वे पुत्रकी प्रतीक्षा कर रहे थे। लड़की होनेकी ख़बर सुनकर वैसी ही हालत हुई जैसी उफनते दूधपर पानीके छींटे देनेसे हो जाती है।

बच्ची बहुत दुबली-पतली, पर सुन्दर थी। माँ पर गई थी। शीला रात-दिन उसी बच्चीमें अपनेको उलझाये रखती। शंकरलालकी ओरसे वह बिलकुल उदासीन हो गई। शंकरलालजी 'बच्ची'के माध्यमसे शीलाके निकट आना चाहते, पर शीलामें जाने कैसी एक तिक्तता आ गई थी। वह इस तरहका भान करती मानो शंकरलालजीसे उसका औपचारिक नाता है।

दिन बीतते गये पर औपचारिकताकी वह दीवार नहीं टूटी। शंकरलाल ऊब-से गये। प्रतिहिंसाकी भावनासे मन भर उठा। वह अपनेको लांछित, अपमानित और उपेक्षित पा रहे थे। उनका पौरुष उन्हें धिक्कार रहा था। परिणाम यह हुआ कि सुराके प्रति वे अधिक सदय हो उठे। पीते और ख़ूब पीते। शीशेकी पालकीमें 'लालपरी' आती और वे मदहोश हो जाते। ऐसे समय मिस्टर चोपड़ा उनकी बड़ी सहायता करते।

मिस्टर चोपड़ा दुनियाके एक अजीब प्राणी थे। उम्र चालीस-पैंतालीस की थी पर फुर्ती बीस सालके युवकों-जैसी थी। वे एक रहस्यमय प्राणी थे और उन्हें किसीने कभी उदास, मनहूस या रोनी सूरतमें नहीं पाया। वे अकेले थे। दस सालसे इस शहरमें थे—किसी कंपनीके मैनेजरके रूपमें। शादी नहीं की। ख़ूबसूरत छोटी-सी कार थी, गवाडीनका सूट पहनते थे और लाल रंगकी फड़कती हुई टाई

बाँधते थे ! लाल रंगसे उनका विशेष लगाव था और उन्हें काले जूते पहनते हुए कभी किसीने नहीं देखा। यहाँ तक कि रातकी पार्टीमें भी वे काले जूते नहीं पहनते थे।

लोग पूछते—"मिस्टर चोपड़ा, अब तक आप बिना शादीके रह गये, अचरजकी बात है !"

चोपड़ा साहब छूटते ही बेतकल्लुफ़ीसे जवाब देते—"घिसी हुई बात दुहरानी पड़ रही है ! वह कहावत है न कि जब ताजा दूध बाजारमें मिलता हो तो गाय पालनेसे फ़ायदा।"

किसी बुज़ुर्गने नसीहत दी—"बाज़ारका दूध 'खालिस' नहीं होता।"

"यह तो परखने वाले का दोष है ! बहुत-सी गायें तो बिलकुल दूध नहीं देतीं।"

बात हँसीमें उड़ जाती। पर लोगोंके लिए चोपड़ा साहब रहस्य ही बने रहते। पैसा काफ़ी कमाते थे। मैनेजरीके अलावा जाने उन्होंने कैसे शेयर खरीदे थे जिनके कारण हर महीने अच्छी ख़ासी रकम उनके हाथमें आती रहती थी। रुपया जिस सरलतासे मुट्ठीमें आता—उतनी ही दरियादिलीसे वे मुट्ठी खोल भी देते थे। पीते थे, पिलाते थे और पार्टियाँ देते थे। अकेले आदमी। न आगे नाथ न पीछे पगहा। यही चोपड़ा साहब शंकरलालजीके घनिष्ठ मित्रोंमें थे।

दरियादिलीकी छूत शंकरलालजीको आ लगी थी। फलतः वे बड़ी उदारतासे हर शाम महफिल जुटाते। यह महफिल क्लबमें जमती या चोपड़ा साहबके यहाँ ! अधिकतर चोपड़ा साहबका बँगला ही ऐसे कामोंके लिए उपयुक्त माना जाता।

अनुभवके घायल लोगोंने कहा है—'सुराका आनन्द बिना सुन्दरीके नहीं आता।' उमरख़ैयामकी भाषामें आनन्दका चरम उत्कर्ष दोनोंके संयोगमें है। फलतः चोपड़ा साहब सुन्दरीकी भी व्यवस्था करते !

जाने कहाँसे ये सुन्दरियाँ आतीं ! सज-धजकर सुन्दरियाँ कारोंमें लाई जातीं और आधी राततक आनन्द बिखेरतीं। कभी-कभी भोर हो जाता और आस-पड़ोसके बंगलेकी मुर्गियाँ 'बाँग' देकर सूचना देतीं कि आनन्द-प्रोग्रामको मुलतवी करनेका समय आ गया है।

आनन्दका यह प्रोग्राम पाँच-छः महीनेतक छूटकर चला। एकाएक जब शंकरलालको एक दिन चक्कर आ गया और शरीरका रक्त-चाप चढ़ता हुआ मालूम दिया तो उन्होंने डाक्टरको फोन करवाया।

डाक्टर आया। चर्बीसे फूले शंकरलालकी परीक्षाकर वह बोला—"यह तो काफ़ी बढ़ा हुआ है ! आपको इलाज पहिले ही करवाना चाहिये था।"

हृदय-रोग !...शंकरलालका माथा अभी भी चकरा रहा था। लग रहा था जैसे हृदयकी गति बन्द हो जायगी।

शंकरलालजी बिस्तरपर पड़ गये। इंजेकशन और दवाओंके बल पर वे तीसरे दिन उठ खड़े हुए। सोचा—आनन्द-प्रोग्राममें अब शरीक न होना चाहिए।

पर लालपरीका आकर्षण जबर्दस्त था। चोपड़ा बोला—"तुम भी डाक्टरी झाँसेमें आ गये ! भई, इनका तो धन्धा यही है ! ऐसे-ऐसे रोग न बतायें तो फिर इनका रोज़गार कैसे चले...मुझको देख लो ! इतनी उमर हो गई—न कोई 'एंटिबायटिक्स' ली न कोई सल्फा-ड्रग ही खाया।"

किस्सा कोतह—आनन्द प्रोग्राममें शंकरलालजी भाग लेने लगे। इस चढ़ती उमरमें अपने भीतर वासनाकी बड़ी तीखी भूख वे पाले थे और उनकी आँखें जलने लगतीं थीं—कंठ सूखता लगता था।

शीलाके व्यवहारमें और भी उदासीनता आ गई थी। शंकरलालकी बीमारीमें अलबत्ता वह उनकी सेवा-शुश्रूषा करती रही—पर, जैसे कर्त्तव्य

निभाया जा रहा हो। वह सेवा एक 'नर्स' की थी, पत्नीकी नहीं। शीलाकी दुनिया अपनी नन्हीं बच्ची तक सीमित थी। सात महीनेकी वह बच्ची पालनेमें मुसकराती रहती। माँ एकटक उसे देखती। बचपन की पढ़ी हुई सुभद्राकुमारीकी वह कविता याद आती—

यह मेरी गोदी की शोभा
सुख-सुहाग की है लाली
शाही शान भिखारिन की है
मनोकामना मतवाली......

पर कविताके शब्द कंठसे बाहर नहीं फूटते! सुख-सुहागकी है लाली—? उसका सुहाग तो मात्र प्रवंचना है!...पर बच्चीको देखकर आत्म-तृप्तिका भाव आता।...यह तो उसके ही रक्त-मांससे निर्मित है... इसे उसने नौ महीनेतक अपने गर्भमें रखा है!

आधी-आधी रात तक जब पति नहीं लौटते, वह गुमसुम बैठी रहती। नशेमें धुत जब वे आते तो चुपकेसे दरवाज़ा खोल देती। कभी-कभी पति इतनी ज़ोरसे दबोचते मानों उसे चूर कर देंगे। वह कुछ नहीं बोलती। गुड़ियेकी तरह चुप रहती। खेलनेवाला खेलता और खेलके बाद उठाकर फेंक देता। गुड़िया क्या कभी प्रतिवाद कर पाई है? हज़ारों वर्षोंसे गुड़िया गूँगी रही है!

शनिवारकी रात थी। आनन्द-प्रोग्राम चल रहा था। लालपरी छलक रही थी—सिगरेटके धुएँसे कमरा भर गया था और रह-रहकर खिलखिलाहटें वायुमें तरंगित हो जाती थीं।

शंकरलालका यह पाँचवाँ पेग था। शलवार और लाल ओढ़नीमें सजी गोरी सुन्दरी ढाल रही थी और मुसकरा रही थी। सुन्दरी पंजाबकी थी! पाँच नदियोंकी धार उसके ओठोंपर थी और जब वह मुसकराती

थी तो ऐसा लगता था जैसे छुरीसे अंगूर काट रही है! चोपड़ा पंजाबी था और वह नशेमें 'हीर' की कड़ियाँ गाने लगा था...

शंकरलालने जब पाँचवाँ पेग गलेके नीचेसे उतारा तो उनका सिर घूमता-सा लगा और ऐसा लगने लगा कि दिलकी धड़कन बन्द हो रही है। कलेजेको उन्होंने आँखें मीचकर थाम लिया और बड़े ज़ोरोंसे कराहा।

सुरा ढालती हुई सुन्दरीके हाथ रुक गये। उसने चिंतित मुद्रामें शंकरलालकी ओर देखा और फिर चोपड़ाकी ओर देखकर बोली—"इन्हें क्या हो रहा है।"

चोपड़ा 'हीर-रांझा' की दुनियामें था। बोला—"तुम्हे देखकर कलेजा थाम रहा है।"

उधर शंकरलालकी आँखें मुँदी जा रही थीं...दिल बर्फके समुद्रमें डूब रहा था। सुन्दरी चिल्लाई—"अरे! ये तो दम तोड़ रहे हैं।"

सुन्दरीने ऐसी भयानक चीख मारी थी कि सबका नशा फट गया। चोपड़ा अपनी कौड़ी-सी आँखें फैलाकर निस्पन्द शंकरलालको देखता रहा। मानो सोच रहा हो—मैं कहाँ हूँ? यह सब क्या है?

उस समय रातके दो बज रहे थे।

शीला विधवा हो गई। सुहागका सिंदूर धुल गया और माँग सूनी हो गई। शीलाके पिता रामचरण बाबू ख़बर पाते ही दूसरे रोज़ पहुँच गये।

पिताको देखकर शीला फफक-फफककर रो पड़ी। पिताके मुखपर जाने कैसी करुण अभिव्यक्ति थी कि मन हाहाकार कर उठता था।

रामचरण बाबूने धोतीकी छोरसे आँसू पोंछते हुए कहा—"यह सब मेरे पापका फल है बेटी! मुझे मरकर भी चैन नहीं मिलेगा..."

क्रिया-कर्म समाप्त होनेपर रामचरण बाबूने पूछा—"घर चलेगी बेटी... ?"

"नहीं बाबूजी ! मैं यहीं रहूँगी ! शीलाने शान्त स्वरमें उत्तर दिया। स्वर इतना दृढ़ था कि और कुछ कहनेका साहस पिताको नहीं हुआ। उदास होकर शामकी गाड़ीसे वे वापस लौट गये।

शीलाके सम्मुख सारा भविष्य था—चौबीस सालकी उम्र थी और जीवनका ज्वार शान्त हो गया था। नन्हीं-सी बिटियाको देखकर बड़ी रुलाई आती और वह डबडबाई आँखोंसे उसे देखकर कहती—मेरी आशा ! बड़ी अभागिन माँकी कोखमें तू आई।

इस दुखद घटनाके बाद ही प्रमिलाका पत्र मिला।

दीदी,

मैं लुट चुकी हूँ। जिसके कन्धोंपर मैंने अपना सिर रक्खा था, वह बड़ा जालिम निकला। उसने अपना कन्धा हटा लिया। दीदी, जगदीश—मेरे पतिने आत्महत्या कर ली !

इस घटनाको बीते आज एक महीना हो गया। महीने भरके बाद आज मैं अपनेको संयतकर यह पत्र लिखने बैठी हूँ। क्या लिखूँ, समझ नहीं पाती। सिर चकरा जाता है। लगता है जैसे मेरे सोचनेकी शक्ति ही समाप्त हो चुकी है। किसीपर विश्वास करनेको जी नहीं चाहता ! मुझे इतनी बड़ी सजा क्यों दे गये ? मेरा अपराध क्या इतना बड़ा था कि ऐसा भयंकर प्रतिशोध लिया जाय ?

पुलिसवाले जब उनकी लाश मेरे पास लाये तो मैं मूर्च्छित हो गई थी। डाक्टरका कहना था कि मैं चौबीस घण्टे बेहोश रही ! इतनी

ज़ोरसे चीखकर लाशपर गिरी थी कि अभी तक उसकी गूँज याद आ रही है। उनकी जेबमें एक पोस्टकार्ड पड़ा था और उसीके पतेके सहारे पुलिस वाले मेरे पास लाश ले आये थे! वे इतने कमज़ोर और भीरु निकलेंगे—काश, मुझे पहले पता होता!

उनके प्रति मेरे मनमें जो श्रद्धा थी—अनुरागका जो पावन स्रोत था वह एकाएक सूख-सा गया है! मुझे ऐसा लग रहा है भावुकताके रंगीन पर्देके पीछे मात्र मरीचिका होती है—केवल धोखा जिससे हम सभी गुमराह हो जाते हैं।

वे कवि थे, साहित्य-स्रष्टा थे। कहते हैं कवि पारदर्शी होता है। पर आज, कवियोंकी शक्तिपरसे मेरा विश्वास उठ गया है। जो व्यक्ति जीवनके सम्मुख ठोस सत्यको नहीं देखता—वह पारदर्शी किस प्रकार कहला सकता है?

मैंने उन्हें अपनी सम्पूर्ण निष्ठा दी थी। मन, काया, वचनसे मैं उनकी थी। इन सबको ठुकराकर वे चले गये!

मैं आज दुनियामें बिलकुल अकेली हूँ। माता-पिता, समाज सबसे अलग। कहाँ जाऊँ, क्या करूँ समझ नहीं पाती! आत्महत्याका विचार मनमें आया था, पर मैं कायरताको दुहराना नहीं चाहती थी। आत्म-हत्या ही क्या ऐसी समस्याओंका एक मात्र समाधान है?...मैं जीते जी कभी आत्महत्या नहीं करूँगी। मैं जीऊँगी और यह देखने जीऊँगी कि बिना आत्महत्याके मुझ-जैसी अभागिन जी सकती है या नहीं?...

एक दफ्तरमें काम कर रही हूँ। टाइपिस्ट क्लर्क हूँ। एक महीने बाद आज फिर दफ्तर गई थी। दफ्तरके बड़े साहब मेहरबान निकले। उन्होंने मेरे दुखमें सहानुभूति प्रकट करते हुए मेरी नौकरीको स्थायी कर देनेका वचन दिया है। श्रम कर पैसे कमाना क्या बुरी बात है दीदी?

अपने दुःखकी बात सिर्फ़ तुम्हें लिख रही हूँ। पिताजी को नहीं लिखा है। उन्हें बतानेका साहस नहीं होता। तुम्हें देखनेको बड़ा जी चाहता है। तुम्हें देख पाती तो मेरा दुःख आधा हो जाता! आओगी दीदी?

तुम्हारी—प्रमि।

प्रमिलाका पत्र पाकर शीला स्तब्ध रह गई। गुमसुम घण्टों बैठी रही। दूसरे दिन शामकी गाड़ीसे वह कलकत्ताके लिए रवाना हुई। साथमें जानकी थी और पतिके कामकाजमें हाथ बंटाने वाले मुन्शीजी।

जिस समय टैक्सीसे वे प्रमिलाके घरकी गलीके मोड़पर उतरे, सन्ध्या बीत चुकी थी। बिजलीकी फीकी रोशनीमें गलीका अंधकार और भी प्रगाढ़ लग रहा था। प्रमिला दफ्तरसे लौटकर चुपचाप रमाके कमरेमें लेटी हुई थी। पतिके मरनेके बाद वह रमाके कमरेमें रहने लगी थी। रमा ही जिदकर उसे अपने घर ले गई थी।

एकाएक शीलाकी आवाज़ सुनकर वह चौंक पड़ी। रमा कह रही थी—"जी हाँ, प्रमिलाजी यहीं रहती हैं, आप अन्दर चले आइये..."

शीलाको सफ़ेद धोतीमें देखकर प्रमिलाका चेहरा फक् पड़ गया। तेज़ीसे उसकी आँखें कलाइयोंपर पड़ीं। वे सूनी थीं। एक गहरी चीख़ मारकर वह दौड़ी—"दीदी..."

दोनों बहनें रो रही थीं। ऐसा लग रहा था जैसे गंगा-यमुना आपसमें टकरा गई हों और उनसे निरन्तर तीव्र उच्छ्वास निकल रहा हो।

कोई शब्द नहीं, कोई वाक्य नहीं—मात्र क्रन्दनकी अजस्र धारा। शब्द तो ऐसी धाराओंमें भटक जाते हैं।

चलते समय शीलाने सुधीरके पुराने पतेपर एक तार दे दिया था। तार भेजकर वह पछताने लगी। अब वह अपने जीवनमें सुधीरको नहीं

लाना चाहती थी। सुधीरकी स्मृति अन्तःस्तलमें दबा दी गई थी। पर कलकत्ताके साथ ही सुधीरका चित्र भी उभर आया। सुधीरकी याद आते ही मन प्राण आन्दोलित हो उठे। लगा जैसे कोई पुराना दर्द उभड़ गया है—घाव परके धागे एकाएक टूट गये हैं और घाव बड़ा दर्द दे गया है...पर तार दिया जा चुका था। वह मन ही मन रास्ते भर भगवान्से प्रार्थना कर रही थी कि सुधीरको तार न मिले और वह स्टेशन न आये। बहनके दुःखमें सम्मिलित होनेके साथ क्या अवचेतन मनमें सुधीरकी स्मृति नहीं उभरी थी?...सत्य इतना तीखा होता है। शीलाकी सारी यात्रा कष्टप्रद रही।

पर जिस आशंकासे वह पीड़ित थी, वही आशंका सार्थक सिद्ध हुई। सुधीर प्लेटफार्मपर खड़ा गाड़ीकी प्रतीक्षा कर रहा था। मनमें आया कि गाड़ीसे न उतरे, पर तीर तूणीरके बाहर जा चुका था।

सुधीर गम्भीर था। उसे ज्ञात हो गया था कि शीलाको सुहागसे वंचित होना पड़ा है। चार आँखें मिलीं। उठीं, मिलीं, झुकीं। शीलाके चेहरेपर घबड़ाहटके लक्षण दिखलाई पड़े। शीला बोली—"अपनी बहन प्रमिलासे मिलने आई हूँ।"

श्वेत वस्त्रसे लिपटी शीला स्पष्ट घबड़ाई हुई थी। आयाकी गोदसे सुधीरने बच्चीको ले लिया। सिर्फ़ इतना ही बोला—"अपनी गाड़ी लाया हूँ।"

सभी सीधे प्रमिलाके यहाँ पहुँचे। क्रन्दनका आवेग जब घटा तो शीलाने देखा—सुधीर बच्चीको गोदमें लिये दरवाज़ेके बाहर खड़ा है। शीलाने प्रमिलाका परिचय कराया। साधारण शिष्टाचारका पालन हुआ। प्रमिलाने बच्चीको अपनी गोदमें ले लिया। बच्ची सो गई थी।

शीला बोली—"मैं यहीं रहूँगी। मुन्शीजीके ठहरनेका इन्तज़ाम कर दीजिए।"

मुन्शीजीको साथ लेकर सुधीर अपने घर वापस आ गया। रास्तेमें मुन्शीजीने बतलाया—"काम-काज ठप्प पड़ा हुआ है। फिल्मके धन्धेमें तो रुपये डूबते जा रहे हैं। कोई देखने-भालने वाला नहीं है।"

लेकिन सुधीर दूसरी दुनियामें था। शीलाको देखकर जाने कैसी घुटन मनपर छा गई थी। स्थिर सरोवरमें किसी चञ्चल बच्चेने कङ्कड़ फेंक दिये थे। जलमें कम्पन होने लगा था और लहरें फैलती जा रही थीं।

लहरें फैलती गईं और सुधीर उनमें डूब-सा गया। शीलाको प्रमिला छोड़ती नहीं थी और आजकल करते-करते बीस रोज़ हो गये थे।

शामको सुधीर गाड़ी ले आता। सुधीर, प्रमिला और शीला दूर-दूर तक निकल जाते। ऐसा लग रहा था जैसे जीर्ण जीवनमें नई कोंपलें उठी हैं। प्रमिलाके परिधानसे वैधव्य पूर्ण रूपसे परिलक्षित नहीं होता था। लगता—जैसे कालेजकी किसी पोस्ट-ग्रेजुएट क्लासकी गंभीर क़िस्मकी कोई लड़की है! बीच-बीचमें वह इस प्रकार खिलखिला पड़ती कि शीलाको चौंक जाना पड़ता।

प्रमिला भी कुछ दिनोंके लिए रमाका घर छोड़ आई थी। इस बीच सुधीरके अनुरोधपर सारे व्यक्ति उसके फ्लैटमें आ गये थे। मुंशीजीकी पत्नी घरपर बीमार थीं और वे लौट गये।

शीला भी कभी-कभी बातचीतमें मुसकराने लगी थी पर उसकी मुसकराहटमें करुणा ही अधिक मूर्त्त हो उठती थी। प्रमिलाके अनुरोध पर एक बार वह फिल्म देखने भी गई।

प्रमिला स्वस्थ रूपसे जीवनको ले रही थी। ड्राइंग रूममें एक दिन जाने किस प्रसंगमें वह कह बैठी—"दीदी, यह कहाँका न्याय है कि सारा जीवन हम रोती-भीखती रहें। हमने कौन-सा ऐसा पाप किया है जो समाज हमें इस प्रकारके दण्ड देता है...।"

शीलाने कहा था—"यह हमारी परम्परा है ! हमारे लिए सुहाग ही सब कुछ है। सुहाग खोकर हमें सब कुछ खोना पड़ता है।"

"पर क्यों...?" प्रमिलाका स्वर दृढ़ था—"संसारमें और भी तो अनेक सभ्य जातियाँ है जहाँ इस प्रकारके अत्याचार नारियोंपर नहीं होते। हम सहती हैं इसलिए समाजको अत्याचार करनेका अवसर मिलता है ! पुरुषकी भाँति यदि हम भी तनकर खड़े हो जायँ तो यह रोना न पड़े...।"

शीलाने एक अर्थभरी दृष्टिसे प्रमिलाकी ओर देखा था।

सुधीरके सान्निध्यमें प्रमिलाका चेहरा उत्फुल्ल हो उठता था। एक दिन वह शीलासे बोली—"सुधीर बाबू-जैसे पुरुषोंकी समाजमें यदि प्रधानता रहे, तो समाजका सारा दृष्टिकोण स्वस्थ हो जाय।"

शीलाने किंचित् हँसकर पूछा—"सुधीर बाबूको तू कबसे जानने लगी ? अभी मुश्किलसे परिचय हुए दस रोज़ हुए हैं।"

प्रमिला झेंप-सी गई।

उधर सुधीरके भीतर जाने कैसी एक ज्वाला सुलग गई थी। शीलाका शान्त सम्मोहन उसे बैचेन किये था। वह खुलकर शीलासे बातें करना चाहता था, पर शीला कभी ऐसा अवसर उसे नहीं दे रही थी। शीलाके व्यवहारमें एक ऐसा शीतल भाव था कि सुधीर व्यग्र और अधीर होता जा रहा था। वह शीलाको हँसते देखना चाहता था। वह अपनी उसी पुरानी 'शीला' को ढूँढ़ रहा था जो एक रात उसके समीप भागी-भागी आई थी ! पर उस शीला और इस शीलामें कहाँ साम्य है ? लगता है जैसे दो अलग व्यक्तित्व हैं और एकका दूसरेसे कोई परिचय नहीं।

जाने एक कैसी दुर्दम आकांक्षा सुधीरके मनमें उठने लगी थी। शीलाकी उपस्थितिमें वह जैसे दीन-दुनिया सब भूल जाता। मात्र रह

जाती आधी रातकी वह शीला, जो उसके बीमार वक्षपर गिरकर रोती रही थी !

शीलाके लौटनेका दिन निकट आ गया। आज शनिवार था और रविवारको लौटनेका उसने निश्चय कर लिया था। प्रमिला वापस रमाके घर चली जानेवाली थी।

शनिवारका अपराह्न। शीला मोढ़ेपर बैठी बेबीके लिए स्वेटर बुन रही थी। प्रमिला दफ्तर थी। जानकी बेबीके साथ दूसरे कमरेमें सो रही थी।

सुधीरके स्वरसे वह चौंकी। सुधीर कह रहा था—"मैं आपसे कुछ कहने आया हूँ।"

शीलाने बुनाई रोक कर सुधीरकी ओर देखा। लगा—जैसे इन कुछ दिनोंमें वह दुबला और अधिक गम्भीर हो गया है। शीला चुप रही।

सुधीर बोला—"आपको याद होगा एक दिन आप मेरे पास अपनी समस्याका समाधान ढूँढ़ने आई थीं। मैंने कहा था—हमें जीवनसे समझौता करना होगा क्योंकि और कोई राह नहीं है।"

शीलाने आँखे झुका लीं।

सुधीर बोला—"आज राह नज़र आती है। यदि हम आप पुराने संस्कारोंको तोड़ दें तो इस राहपर हम आगे बढ़ सकते हैं।"

शीला जैसे बुत बनी बैठी थी।

सुधीर अधीर होकर बोला—"आप मेरे प्रश्नका जवाब क्यों नहीं देतीं ?"

शीलाकी आँखोंमें नीर भर आया। आहिस्ते बोली—"वह रास्ता हमारे लिए बन्द है सुधीर बाबू।"

"बन्द किसने किया ? वह तो एक ही धक्केमें खुल जायगा शीला,..." कहते हुए उसने शीलाके कन्धे झकझोर दिये।

शीलाकी आँखोंसे अनवरत आँसू बह रहे थे।

"शीला...मुझे गलत न समझो...मैंने बहुत सोच-विचारकर यह क़दम उठाया है"—शीलाको उसने अपने बाहुओंमें लेना चाहा, पर आहिस्ते सुधीरका हाथ नीचेकर वह बोली—"सुधीर बाबू, पाना ही सब कुछ नहीं है। मुझे जाने दीजिये..." कहकर आँसू पोंछती हुई वह कमरेसे बाहर निकल गई।

दूसरे दिन सन्ध्याकी गाड़ीसे शीला वापस लौट आई। स्टेशनपर सुधीर भी आया था। पर वह बिलकुल मोमके बुतकी तरह खामोश था। बड़ी कठिनाईसे शीलाने आँसुओंके वेगको रोक रक्खा था।

एक सप्ताहके बाद सुधीरको शीलाका यह पत्र मिलाः—

सुधीर बाबू,

मेरे व्यवहारसे आपको जो कष्ट हुआ है, उसके लिए मैं माफ़ी चाहती हूँ। पुरानी शीला मर चुकी है—उसी दिन, जिस दिन वह माँ बन गई! आपकी राहमें मैं सदा आपके लिए बोझ बनी रहती। अपनी बच्चीके सहारे मैं यह जीवन काट लूँगी। मैं अपने संस्कारोंसे कभी ऊपर नहीं उठ सकती। मैं भीरु हूँ और इसीलिए मैंने जीवनमें इतना कुछ सहा है। आप दूसरा कुछ न समझें।

एक अनुरोध करती हूँ—आन्तरिक प्रार्थना है मेरी। प्रमिलाको आप जान गये होंगे। प्रमिलाके लिए मुझे अपनेसे अधिक चिन्ता है। क्या होगा इस अभागिन का? इसी सोचमें रात-रातभर बेचैन रहती हूँ।

यदि सम्भव हो तो मेरे अनुरोधकी रक्षा करें। प्रमिलाको सुखी देख-कर मैं जीवनभर हँसती रहूँगी।

—शीला

अन्तिम कथा

तीसरे महीने शीलाको विवाहका एक सुरुचिपूर्ण आमन्त्रण-पत्र मिला।

"श्री सुधीरकुमारका परिणय श्रीमती प्रमिलाके साथ शनिवार ३ जुलाईको आर्य-समाज भवनमें वैदिक रीतिसे सम्पन्न होगा। आपकी उपस्थिति प्रार्थित है।"

शीला वातायनके पास खड़ी थी। शीतल हवाका झोंका आया और साथमें फुहारें भी लेता आया।

आषाढ़के मेघ विरही यक्षका सन्देश लेकर जाने कहाँ जा रहे थे!